मेहरचंद-लक्ष्मणदास-हिंदी-पुष्पमाला—नं० १४

गल्प-पारिजात

संग्रहकर्त्ता तथा संपादक
सूर्यकान्त एम. ए., डी. लिट. (पंजाब), डी. फ़िल. (ऑक्सन),
यूनिवर्सिटी रीडर इन संस्कृत
लाहौर

प्रकाशक
मेहरचंद्र लक्ष्मणदास
संस्कृत-हिन्दी-पुस्तक-विक्रेता
लाहौर

द्वितीयावृत्ति
1940

भूमिका

कहानी बालकों की अपनी चीज है। रात को भोजनोपरांत पाठशाला का काम एक ओर रख वे बड़ी-बूढ़ियों को भूत, प्रेत, राजा, रानी और उनके उड़नखटोले की कहानी सुनाने पर बाध्य करते हैं। कहानी से जितना प्रेम बच्चों को है, उतना ही बड़े-बूढ़ों को। पहर रात गये लाला जी दूकान से थके आते हैं और भोजन कर या तो रामायण आदि की कथा सुनते हैं अथवा सिनेमा जाकर प्रेम-कथानक देख मन बहलाते हैं। गाँव की चौपालों में भी रात को हुक्के पर अकबर-बीरबल के चुटकले चलते हैं।

कहानी की इतनी व्यापक लोकप्रियता क्यों? इसलिए कि इसमें सुनने और पढ़नेवालों को अपने जीवन का चमत्कारी प्रतिफलन दीख पड़ता है; इसमें उन्हें अपनी दैवी, मानुषी और आसुरी वृत्तियाँ सामने खड़ी दृष्टिगत होती हैं। वह

दैनिक परिस्थिति और वह प्रतिदिन की कार्यशृंखला, जिसमें वे अपना जीवन बिताते आये हैं, कहानी की परिधि में आ एकदम बदल जाती है। यहाँ पहुँच उस पर कल्पना की कूँची से सोना फिर जाता है। प्रतिदिन के वास्तविक घटनाजाल पर कल्पना का मुलम्मा लगने में ही कथा-साहित्य का प्रादुर्भाव है।

कहानी के साथ मनुष्य का यह प्रेम आज का नहीं, अपितु उस दिन का है, जब कि वह ईव के उपवन में झूमने वाले तरुराज का मादक फल चख, भौतिक जीवन में दीख पड़ने वाले सुख-दुःखों की पिटारी को हृदय में छिपा, स्वर्ग से धराधाम पर उतरा था और पूर्व दिशा में सुमेरु के पीछे फूटने वाली उषा के अरुण प्रसर को देख उसके स्तोत्र के रूप में उसका अंतरात्मा प्रवाहित हो चला था। आर्यों के प्राचीनतम साहित्य वेद में आने वाले यम-यमी, सरमा-पणि, दुष्यंत-उर्वशी आदि के लाक्षणिक कथानकों में यही बात दीख पड़ती है। उसके उपरांत ब्राह्मणों तथा आरण्यकों म कहानी स्पष्ट रूप धारण कर लेती है और पीछे आने वाले महाभारत, रामायण, काव्य, नाटक, चंपू आदि में तो उसकी छलछलाती धारा वह निकलती है। संस्कृत के पंचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रंथों में विकसित हुआ कथा-साहित्य कथासरित्सागर में परिनिष्ठा को प्राप्त होता है।

किंतु स्मरण रहे, संस्कृत की उत्तराधिकारिणी होने पर भी हिंदी ने इस क्षेत्र में अपनी जननी से कुछ नहीं पाया।

अपने वर्तमान रूप में कहानी उसे परंपरया अंग्रेज़ी साहित्य से प्राप्त हुई है। मार-धाड़ और दौड़-धूप के व्यावसायिक युग में प्रकाशित होने वाली अंग्रेजी मासिक-पत्रिकाओं ने, मिलों में, १२½ से १½ तक मिलने वाली एक घंटे की छुट्टी में, लंच खाकर भी समाप्त की जाने योग्य छोटी छोटी चलती कहानियों का खुले हाथों स्वागत किया और पश्चिम में इस प्रकार के कथा-साहित्य को आशातीत प्रगति मिली। कुछ काल पश्चात् इन्हीं आख्यायिकाओं के आधार पर बंगला में बड़े भव्य गल्पों की शृंखला चली, जिनमें बड़े ही मार्मिक और भावव्यंजक ऐतिहासिक या सामाजिक खंडचित्र रहते थे। उन्हींके अनुकरण पर, हिंदी में, सब से पहले बाबू गिरिजाकुमार घोष ने, लाला पार्वतीनंदन नाम से सरस्वती पत्रिका में इस प्रकार की आख्यायिकाएँ खड़ी कीं। शनैः शनैः इंदु आदि पत्रों ने साहित्य के इस उपेक्षित अंग को अपनाया और कुछ ही वर्षों में हिंदी में आख्यायिका-लेखकों का खासा मंडल तैयार हो गया, जिनमें गुलेरी, प्रसाद, प्रेमचंद, कौशिक, सुदर्शन, हृदयेश, चतुरसेन, राय कृष्णदास, व्यास, जैनेंद्रकुमार और वियोगी आदि के नाम उल्लेखयोग्य हैं।

एक शब्द कहानी लिखने की कला पर। कहानी लिखते समय उसके छः अंग अर्थात् प्लॉट, पात्र, कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य पर ध्यान रखना आवश्यक है। कहना न होगा कि आख्यायिका उपन्यास की अपेक्षा कहीं अधिक

छोटी होती है, और अवकाश के समय एक ही बैठक में समाप्त की जा सकती है। उसका प्रतिपाद्य विषय ऐसा होना चाहिए, जिसका कहानी की नियंत्रित सीमा में भली भाँति निर्वाह और विकास हो सके। उसका उद्देश्य और आधारभूत ध्येय एक होना चाहिए और आदि से अंत तक उसी को लक्ष्य में रखकर उसी के परिपोषण और परिपाक के लिए कहानी लिखी जानी चाहिए। अनपेक्षित प्रसंगों का उसमें काम नहीं, अनावश्यक वर्णनों के लिए उसमें स्थान नहीं। कहानी की प्रत्येक पंक्ति घटनाओं के क्रमिक विकास में लड़ी का काम देती है; उसकी पहली पंक्ति में ही सिनेमा के ऑपरेटर की स्फूर्ति होती है; उसका शीर्षक ही मोटर की हेडलाइट का काम देता है।

कहानी लिखने में पाठकों की रुचि का ध्यान रखना आवश्यक है। कुशल लेखक को भली भाँति परखकर पहले यह आँकना होता है कि मेरी अमुक रचना का पाठकों पर अमुक प्रकार का प्रभाव पड़ेगा। उसी प्रभाव या परिणाम को लक्ष्य में रख वह घटनाओं की ऐसी संतति उपजाता है, जो अभीष्ट परिणाम के संपुटित करने में अचूक तथा अमोघ साधन सिद्ध हो। यदि उसके प्रारंभिक संदर्भ ने ही गर्भस्थ परिणाम पर खरी चोट न की तो समझो प्रथम ग्रास में ही मक्षिकापात हो गया। आदि से अंत तक रचना में ऐसा एक भी प्रसंग न होना चाहिए, जो पाठकों को अभीष्ट परिणाम की ओर अग्रसर न करता हो। इतने कौशल, इतने ध्यान और इतने उपकरणों द्वारा अंत में

जो चित्र प्रस्तुत होता है वही कलाकुशल पाठक की आत्मतुष्टि कर पाता है। बस, कहानी का शुद्ध और स्वच्छ रूप यही है; इसी के सफल उद्भावन में कथालेखक की इतिकर्तव्यता है।

यह बताना कठिन है कि किस घटना और किस प्रकार के लक्ष्य को ध्यान में रखकर कथा लिखी जानी चाहिए। बहुमुखोन्मेषी मानव-जीवन के किसी भी पहलू को लेकर चतुर कलाकार भव्य कथानक खड़ा कर सकता है; मूक प्रकृति की किसी भी विभूति को अपना वह उसके विकास की राम-कहानी कह सकता है। चेतन के प्रत्येक इंगित में उसके विलास और विकास की उत्कट आकांक्षा आंदोलित है; मूक जगत् के प्रत्येक स्पंदन में उसकी अगणित वर्षों की प्रखर तपस्या केंद्रित है। इनमें से किसी भी इंगित और किसी भी स्पंदन को ले कुशल चित्रकार उसके द्वारा जीवन के संघर्ष और अंतर्द्वंद्व की रूपरेखा खींच सकता है। जब कलाकार की प्रतिभा में इतनी तीव्रता और व्यापकता आ जाती है तब उसकी रचनाएँ विश्वजनीन बन जाती हैं; तब वे देश और काल की परिधि को पार कर साहित्यिक जगत् की स्थायी संपत्ति बन जाती हैं।

विश्वजनीन कृतियों की बात जाने दीजिए; क्योंकि इस कोटि की रचनाएँ किसी भी साहित्य में इनी-गिनी ही होती हैं। सामान्य श्रेणी की रचनाओं में, उनको निष्पन्न करने वाले सब उपकरणों के विद्यमान रहते हुए भी यदि देशकालोपयोगिता न बन पड़ी तो कला की दृष्टि से नवेली होने पर भी वे

पलाश के निर्गंध पुष्प की नाईं निरर्थक सिद्ध होती हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंद जी ने अपनी रचनाओं में आदर्शवाद को प्रधानता दी है, जिसका परिणाम यह है कि उनकी अमर कृतियों में हम स्थान स्थान पर मुक्त-केशिनी, विधुरवदना भारतमाता के मूक रुदन को मुखरित हुआ पाते हैं; जगह जगह निरीह भारत के दलित श्रमी समाज की गंभीर-विकृत मुखमुद्रा को दारिद्र्य के दारुण चित्रपट पर चित्रलिखित हुई देखते हैं।

और यही कारण है कि किशोरावस्था के छात्रों के लिए संकलित किये इस कथा-संग्रह में हमने उन्हीं कहानियों को स्थान दिया है जो कथा-साहित्य की सब विभूतियों से विभूषित होने के साथ साथ छात्रों के चरित्र को उज्ज्वल बनाने में और उनके विकासोन्मुख हृदयों में दयादाक्षिण्य, वीरता, शौर्य तथा देश-भक्ति के भाव अंकुरित करने में अमोघ साधन सिद्ध हों।

उसने कहा था, यही मेरी मातृभूमि है, दिल की रानी, निर्मम, भिक्षुराज और कुणाल आदि कहानियों की पंक्ति पंक्ति से उदात्त भाव, गंभीर वेदना और पावन विचार फूटे पड़ रहे हैं। जहाँ एक ओर भिक्षुराज, विचित्र स्वयंवर और कुणाल आदि कहानियों को पढ़कर पाठक का हृदय दयादाक्षिण्यादि उदार भावों से आप्लावित हो जाता है, वहाँ विद्रोही (शक्तिसिंह) और निर्मम नामक कहानियों में उसे अतीत भारत के क्षत्रियों की वे सभी वदान्य भावनाएँ और

शौर्य कृतियाँ केंद्रित हुई दृष्टिगत होती हैं, जिनको स्मरण कर यह जरत्काय, दईमारा भारत आज भी साभिमान अनुप्राणित है। वे बच्चे, विधाता, अपना अपना भाग्य आदि प्रसंगों को पढ़ भारत की वे दारुण दवाड़ियाँ हमारी आँखों में घूम जाती हैं, जिनमें तमतमाते भुवनभास्कर की धधकती भट्ठी के नीचे, जेठ की दहाड़ती धूप में हमारे अगणित, नादान भाईबंद, भूखे और प्यासे, भुन-भुनकर, झुलस-झुलसकर, तड़प-तड़पकर, डबडबाई आँखों प्राण त्याग देते हैं। संसार के सभी सभ्य, स्वतंत्र देशों के युवक आज विज्ञान के बल पर, मनुष्य और प्रकृति की ओर से आने वाली इन आपदाओं पर विजय प्राप्त करने में प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं। ?, यही मेरी मातृभूमि है आदि प्रसंगों को पढ़, वह कौन-सा अभागा भारतीय होगा, जिसके हृदय में देश-भक्ति और कर्तव्यनिष्ठा के सोये भाव न जाग पड़ेंगे और जो स्वाभिमानी अमरसिंह की नाईं स्वतंत्रता की बलिवेदी पर अपना जीवन निछावर करने को उद्यत न हो जायगा।

उसने कहा था और सच के सौदे में हमारे जीवन के उन निभृत कोनों की कथा छेड़ी गई है, जो अत्यंत पवित्र तथा विविक्त होने पर दारुण आपदाओं के निविड अंधकार से आच्छन्न रहते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर इस संग्रह की कहानियाँ कला की दृष्टि से सुतरां भव्य, प्रगल्भ तथा उत्कृष्ट संपन्न हुई हैं, वहाँ वे भावों की दृष्टि से भी बड़ी ही नवेली, अनूठी और चुटीली बन पड़ी हैं।

एक शब्द पारिजात के संपादन के विषय में। आधुनिक संपादनकला का प्रमुख सिद्धांत यह है कि संपाद्य वस्तु के हस्तलिखित या मुद्रित पाठों में किसी प्रकार का भी परिवर्तन न कर उसे मौलिक रूप में प्रकाशित कर दिया जाय। हाँ, संपादक को इस बात का अधिकार अवश्य है कि वह संपाद्य वस्तु में पाई जाने वाली अशुद्धियों, असंगतियों तथा अन्य प्रकार के दोषों को फुटनोटों में दिखा दे। प्रस्तुत रचना में इस सिद्धांत का यथासाध्य पालन किया गया है, और यही कारण है कि प्रेमचंद की दिल की रानी नामक कहानी में आने वाले उर्दू शब्द वैसे के वैसे ही रहने दिये गये हैं और उनके अर्थ फुटनोटों में रक्खे गये हैं।

स्वभावतः प्रत्येक लेखक की लेखन-प्रणाली अपनी निजू होती है, और सब लेखकों का भाषा पर एक-सा अधिकार नहीं होता। हिंदी के कथालेखकों में खासी संख्या ऐसे लेखकों की है, जो उर्दू क्षेत्र में मँजकर हिंदी के सामंत बने हैं। इस श्रेणी के लेखकों से, भाव और कला की दृष्टि से चाहे उनकी रचना कैसी ही चुटीली क्यों न संपन्न हुई हो, भाषा के औचित्य तथा सौष्ठव की आशा करना ऊसर में सोते ढूँढना है। इनमें से कतिपय ने हिंदी के वाक्य-विन्यास की स्वारसिकता को न अपना उसे भर-पेट तोड़ा-मरोड़ा है; ठेठ उर्दू की शृंखला में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ऐसा फूहड़ प्रयोग किया है कि ऐसे स्थानों पर संपादक से हस्तक्षेप किये बिना नहीं रहा गया, और वह संपाद्य वस्तु में परिवर्तन करने की अनधिकार चेष्टा कर ही बैठा है। साथ

ही इनमें से कुछ की रचनाओं में कहीं कहीं धाराप्रवाह का व्यतिक्रम, भावव्यंजना की उखड़-पुखड़, शब्दों और वाक्यों की शिथिल उठ-बैठ या उनका अलगथिलगपन इस सीमा को पहुँच गये हैं कि उन्हें ठीक किये बिना इनकी रचनाओं को अबोध छात्रों के संमुख रखना अनुचित समझा गया है; संपादक ने ऐसे स्थलों पर भी यथेष्ट परिवर्तन किया है। जहाँ वाक्य-विन्यास के औचित्य ही की अनुचित उपेक्षा की गई हो, वहाँ लिये और भेद का और अनुस्वार तथा अनुनासिकाक्षरों के सदुपयोग का कहना ही क्या। इन बातों में हस्तक्षेप न कर इन्हें मौलिक रूप में ही मुद्रित कर दिया गया है। हिंदीकथा-लेखकों के अर्धविराम, विराम, डैश, हाइफन आदि के उपयोग को देखकर तो कैसे भी व्याकरणविद् का मस्तिष्क चकरा जायगा; इन्हें भी कुछ स्थलों को छोड़, जैसे का तैसा छाप दिया गया है।

प्रार्थना और आशा है कि इस प्रकार की खटकने वाली त्रुटियों पर भविष्य में हिंदीकथालेखक ध्यान देंगे और कला और भावों की दृष्टि से भव्य संपन्न हुई अपनी रचनाओं को भाषा की दृष्टि से भी परिमार्जित तथा परिपूत बनाने का प्रयत्न करेंगे।

इस हार्दिक प्रार्थना के साथ हम उन सब कथालेखकों को कोटिशः धन्यवाद देते हैं, जिनकी मनोरंजक कहानियाँ पारिजात में उद्धृत की गई हैं। परमात्मा करे, उनकी कृतियाँ

अमर सिद्ध हों और वे ऐहिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस के भागी बनें।

कहानियों के शुद्ध मुद्रण में मेसर्स मेहरचंद्र लक्ष्मणदास फर्म के अध्यक्ष लाला खज़ानचीराम जी ने और उनके मुद्रणालय के सुयोग्य निरीक्षक पंडित विजयानंद खंडूड़ी शास्त्री ने हमारी सहायता की है।

कहानियों के निर्वाचन में मुझे अपनी सहधर्मिणी श्रीमती सुखदादेवी का अनुपम सहयोग प्राप्त हुआ है।

शिमला
१-२-३८

सूर्यकान्त

विषयानुक्रमणिका

पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी

जीवन-परिचय

पंडित चंद्रधर के पूर्वज कांगड़ा के रहने वाले थे; किंतु इनके पिता बाद में जयपुर जा बसे थे। शर्मा जी का जन्म संवत् १९४० में और मृत्यु संवत् १९६८ में जयपुर में हुई। बचपन में ही इन्होंने संस्कृत का अच्छा अभ्यास कर लिया था। सन् १९०३ में प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा पास की। इसमें ये प्रथम रहे थे।

आपने जयपुर से समालोचक नामक मासिक पत्र निकाला था। इसमें आपने साहित्यिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा आलोचनात्मक लेखों की अच्छी शृंखला बाँधी थी।

विषय की भिन्नता के साथ आपकी शैली में भी परिवर्तन दीखता है। किंतु आपकी रचनाशैली की प्रधानता उसकी व्यावहारिकता में है। उसमें अनूठा चलतापन है। किसी विषय को सीधी साधी भाँति प्रस्तुत करके, उसका प्रतिपादन करते समय छोटे छोटे मनोहारी वाक्यों की माला गूँथकर, उसमें मुहाविरों का उचित उपयोग करके आप अपने विषय को सजीव बना देते थे।

कहानियाँ इन्होंने केवल दो तीन लिखी हैं, किंतु वे ही इनके नाम को इस क्षेत्र में अमर करने के लिए पर्याप्त हैं। वस्तुतत्व, पात्र, कथोपकथन, वातावरण, शैली सभी की दृष्टि से ये कहानियाँ अनूठी संपन्न हुई हैं।

'उसने कहा था' कहानी इनकी उत्कृष्ट रचना है। इसमें आदि से अंत तक गंभीर व्यंग्य की एक सूक्ष्म रेखा दीख पड़ती है। कहानी के आरंभ में पंजाबी शब्दों का प्रयोग करके उसे और भी अधिक रोचक बना दिया गया है।

उसने कहा था

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबू-कार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़ों की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले; तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढी वाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसाजी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा',—कहते हुए सफ़ेद

फेंटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीऊणाजोगिए; हट जा, करमाँवालिए; हट जा, पुत्ताँप्यारिए; बच जा, लम्मी उमराँवालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्य वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है ? बच जा।

ऐसे बंबू-कार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और उसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं ?'

'मगरे में;—और तेरे ?'

'माझे में;—यहाँ कहाँ रहती है।'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाज़ार में है।'

इतने में दूकानदार निपटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ी वाले के यहाँ, या दूध वाले के यहाँ, अकस्मात दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला।

एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध बोली—'हाँ, हो गई।'

'कब?'

'कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उँडेल दिया। सामने नहाकर आती

हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

२

'राम-राम यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस-गुना जाड़ा, और मेह और बरफ़ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखाता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोली से बचे तो कोई लड़े। नगर-कोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफ़ा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ़' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों 'झटका' करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फ़िरंगी मेम के बाग़ में—मख़मल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च

का हुकुम मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?' सूबेदार हज़ारासिंह ने मुसकराकर कहा, 'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफ़सर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ़ बढ़ गये तो क्या होगा?'

'सूबेदार जी, सच है' लहनासिंह बोला, 'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ़ से चंबे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गर्मी आ जाय।'

'उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वज़ीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदल दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा

बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमाव ज़मीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।'

'लाड़ी होराँ को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम—'

'चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देस-देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तंबाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है ?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनों कंबल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते

हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने-मराने की बात लगाई है?'

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनाई दी। सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये; मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह ख़ाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधा भाई, क्या है ?'

'पानी पिला दो ।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो ?' पानी पीकर बोधासिंह बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है, पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम, मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें।' यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा

'सच कहते हो ?'

'और नहीं झूठ ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और ज़ीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—'सूबेदार हज़ारासिंह !'

'कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुजूर' कहकर सूबेदार तनकर फ़ौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है, वहाँ पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुकुम न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुकुम।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कंबल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते

ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह क़ैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौक़ा मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिंदुस्तान कब जायँगे ?'

'लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसंद नहीं ?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मज़े यहाँ कहाँ ? याद है, पारसाल नक़ली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वहीं जब आप खोते पर सवार थे और आपका ख़ानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मेस में लगायेंगे। 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे !'

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ'—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया था कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन? वज़ीरासिंह?'

'हाँ, क्यों लहना? क्या, क़यामत आ गई? ज़रा तो आँख लगने दी होती?'

४

'होश में आओ। क़यामत आई और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।'

'क्यों?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सोहरा साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।'

'तो अब?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर

खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एक दम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी-तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफ़सर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो!'

'आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर के तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह

ने एक कुंदा साहब की गरदन पर मारा और साहब 'आह ! माई गाड' कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्च्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब ? मिज़ाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में नील गायें होती हैं और उनके दो फ़ुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान ख़ानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ़ उर्दू कहाँ से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डेम' के पाँच लफ़्ज़ भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानों जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिएँ। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता

था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़कर उनमें से विमान चलाने की विद्या जान गये है। गौ को नहीं मारते। हिंदुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की 'हैनरी मार्टिनी' के दो फ़ायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है?'

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और, औरों से सब हाल कह दिया। बंदूकें लेकर सब तैयार हो गये। लहना ने साफ़ा फाड़कर घाव के दोनों तरफ़ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था—वह

खड़ा था, और, लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज़ आई 'वाह गुरु जी की फ़तह ! वाह गुरु जी का खालसा !' और धड़ाधड़ बंदूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाल सिक्खाँ दी फ़ौज आई ! वाह गुरु जी दी फ़तह ! वाह गुरु जी दा खालसा !! सत श्री अकाल पुरख !!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाक़ी का साफ़ा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को ख़बर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षपा' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि वाणभट्ट की

भाषा में 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफ़ोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर अन्दर आ पहुँचीं। फ़ील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गई। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—'तुम्हें बोधा की क़सम है और सूबेदारनी जी की सौगंद है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ'।

'और तुम ?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं

है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।'

'अच्छा, पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला, आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था, वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—'तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था ?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कुछ कहा, वह लिख देना और कह भी देना।'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। 'वज़ीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ़ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ़ होते हैं। समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

+　　+　　+　　+

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—'हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?' सुनते ही लहनासिंह को बहुत दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

'वज़ीरासिंह, पानी पिला दे!'

पचीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफ़ल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफ़सर की चिट्ठी मिली कि फ़ौज लाम पर जाती है। फ़ौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेड़े में से निकलकर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा, मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती

हैं ? कब से ? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं । दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा । असीस सुनी । लहनासिंह चुप ।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं ।'

'तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटे वाला सालू—अमृतसर में ...'

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली । करवट बदली । पसली का घाव बह निकला ।

'वज़ीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था ।'

स्वप्न चल रहा है । सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया । एक काम कहती हूँ । मेरे तो भाग फूट गये । सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है । पर सरकार ने हम तीमियों की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती ? एक बेटा है । फ़ौज में भरती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ । उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया ।' सूबेदारनी रोने लगी—'अब दोनों जाते हैं । मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दूकान के पास बिगड़ गया था । तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे । आप घोड़ों की लातों में

चले गये थे और मुझे उठाकर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह, पानी पिला,—उसने कहा था'।

\+ \+ \+ \+

लहना का सिर अपनी गोदी पर रक्खे वज़ीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

'कौन ? कीरतसिंह ?'

वज़ीरा ने कुछ समझकर कहा—'हाँ'।

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।'

वज़ीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वज़ीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

+　　+　　+　　+

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफ़ल्स जमादार लहनासिंह।

श्री प्रेमचंद

जीवन-परिचय

श्री प्रेमचंद का जन्म सन् १८८० में मढ़वा गांव, जिला बनारस में हुआ। इनका असली नाम धनपतराय था। प्रेमचंद इनका उपनाम था; उनकी रचनाओं के कारण यही नाम प्रसिद्ध हुआ।

सन् १९०१ में इन्होंने लिखना आरंभ किया। उस समय ये उर्दू में लिखते थे; तब इनका उपनाम 'गुलाबराय' था।

प्रेमचंद प्रगल्भ उपन्यासकार तथा विदग्ध कथालेखक उपन्यासक्षेत्रों में इनकी प्रेमा, सेवासदन, वरदान, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा, ग़बन, कर्मभूमि नामक रचना प्रसिद्ध हैं और इनकी अमर कहानियाँ प्रेमद्वादशी, प्रेमपचीसी, मानसरोवर आदि में संगृहीत हैं।

इनकी कई कहानियों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। आपने बहुत दिन तक माधुरी, हंस और जागरण का संपादन भी किया था।

इनकी रचनाओं में वस्तुविन्यास, चरित्रचित्रण, कथोपकथन की शृंखला, देशकाल का प्रतिबिंब, भाषाशैली और भावव्यंजन सभी अनूठे संपन्न हुए हैं। सामान्य समाज की अंतःप्रकृति का जो व्यापक विश्लेषण और वस्तुतत्त्व का जो अप्रतिहत विकास इनकी रचनाओं में मिलता है, वह अन्य किसी भी हिंदीलेखक की कृति में नहीं दीख पड़ता। इस कारण इन्हें उपन्यासक्षेत्र का सम्राट् कहा जाता है।

साहित्यकला की दृष्टि से भव्य होने के साथ साथ प्रेमचंद की कृतियों ने समाज का अमित उपकार भी किया है। उन्होंने प्लेटफ़ार्म से राष्ट्र की सेवा नहीं की, किंतु उनकी करुणाकलित लेखनी ने दीन दुखियों की मर्मभरी मूक वेदना को मुखरित कर उन्नत समाज का ध्यान उनकी ओर अवश्य बँधाया है।

इनकी भाषा चलती हिंदुस्तानी है। उसमें उर्दू के शब्दों का अच्छा समावेश है।

हिंदी को आपसे बड़ी आशा थी किंतु दुर्भाग्यवश सन् १९३६ में जलोदर रोग से पीड़ित हो आप इस नश्वर संसार से चल बसे।

यही मेरी मातृ-भूमि है

आज पूरे ६० वर्ष के बाद मुझे मातृभूमि, प्यारी मातृभूमि, के दर्शन प्राप्त हुए हैं। जिस समय मैं अपने प्यारे देश से विदा हुआ था और भाग्य मुझे पश्चिम की ओर ले चला था, उस समय मैं पूर्ण युवा था। मेरी नसों में नवीन रक्त संचारित हो रहा था। हृदय उमंगों और बड़ी बड़ी आशाओं से भरा हुआ था। मुझे अपने प्यारे भारतवर्ष से किसी अत्याचारी के अत्याचार या न्याय के बलवान् हाथों ने नहीं जुदा किया था। अत्याचारी के अत्याचार और क़ानून की कठोरताएँ मुझसे जो चाहे, करा सकती हैं, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि मुझसे नहीं छुड़ा सकतीं। वे मेरी उच्च अभिलाषाएँ और बड़े-बड़े ऊँचे विचार ही थे, जिन्होंने मुझे देश-निकाला दिया था।

मैंने अमेरिका जाकर वहाँ खूब व्यापार किया और व्यापार से धन भी खूब पैदा किया तथा धन से आनन्द भी खूब मनमाने लूटे। सौभाग्य से पत्नी भी ऐसी मिली, जो सौंदर्य में अपना सानी

आप ही थी। उसकी लावण्यता और सुन्दरता की ख्याति तमाम अमेरिका में फैली थी। उसके हृदय में ऐसे विचार की गुंजायश भी न थी, जिसका संबंध मुझसे न हो। मैं उस पर तन-मन से आसक्त था और वह मेरी सर्वस्व थी। मेरे पाँच पुत्र थे जो सुंदर, हृष्ट-पुष्ट और ईमानदार थे। उन्होंने व्यापार को और भी चमका दिया था। मेरे भोले-भाले नन्हे-नन्हे पौत्र गोद में बैठे हुए थे, जब कि मैंने प्यारी मातृभूमि के अंतिम दर्शन करने को अपने पैर उठाये। मैंने अनंत धन, प्रियतमा पत्नी, सपूत बेटे और प्यारे-प्यारे जिगर के टुकड़े नन्हे-नन्हे बच्चे आदि अमूल्य पदार्थ केवल इसी लिए परित्याग कर दिये कि प्यारी भारत-जननी के अंतिम दर्शन कर लूँ। मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ; १० वर्ष के बाद पूरे सौ वर्ष का हो जाऊँगा। अब मेरे हृदय में केवल एक ही अभिलाषा बाक़ी है कि मैं अपनी मातृभूमि का रज-कण बनूँ।

यह अभिलाषा कुछ आज ही मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुई बल्कि उस समय भी थी, जब मेरी प्यारी पत्नी अपनी मधुर बातों और कोमल कटाक्षों से मेरे हृदय को प्रफुल्लित किया करती थी और जब कि मेरे युवा पुत्र प्रातःकाल आकर अपने वृद्ध पिता को सभक्ति प्रणाम करते, उस समय भी मेरे हृदय में एक काँटा-सा खटकता रहता था कि मैं अपनी मातृभूमि से अलग हूँ। यह देश मेरा देश नहीं है और मैं इस देश का नहीं हूँ।

मेरे धन था, पत्नी थी, लड़के थे और जायदाद थी; मगर न मालूम क्यों, मुझे रह-रहकर मातृभूमि के टूटे-फूटे झोपड़े, चार-छः बीघे मौरूसी ज़मीन और बालपन के लँगोटिये यारों की याद

अक्सर सता जाया करती। प्रायः अपार प्रसन्नता और आनंदोत्सवों के अवसर पर भी यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था कि 'यदि मैं अपने देश में होता......!'

२

जिस समय मैं बंबई में जहाज़ से उतरा, मैंने पहले काले-काले कोट-पतलून पहने टूटी-फूटी अँगरेज़ी बोलते हुए मल्लाह देखे। फिर अँगरेज़ी दूकानें, ट्राम और मोटरगाड़ियाँ दीख पड़ीं। इसके बाद रबर-टायरवाली गाड़ियों और मुँह में चुरट दाबे हुए आदमियों से मुठभेड़ हुई। फिर रेल का विक्टोरिया-टर्मिनस-स्टेशन देखा। बाद में रेल पर सवार होकर हरी-हरी पहाड़ियों के मध्य में स्थित अपने गाँव को चल दिया। उस समय मेरी आँखों में आँसू भर आये और मैं खूब रोया, क्योंकि यह मेरा देश न था। यह वह देश न था, जिसके दर्शनों की इच्छा सदा मेरे हृदय में लहराया करती थी। यह तो कोई और देश था। यह अमेरिका या इँगलैंड था, मगर प्यारा भारत नहीं।

रेलगाड़ी जंगलों, पहाड़ों, नदियों और मैदानों को पार करती हुई मेरे प्यारे गाँव के निकट पहुँची, जो किसी समय में फूल, पत्तों और फलों की बहुतायत तथा नदी-नालों की अधिकता से स्वर्ग को मात कर रहा था। मैं जब गाड़ी से उतरा, तो मेरा हृदय बाँसों उछल रहा था। अब अपना प्यारा घर देखूँगा—अपने बालपन के प्यारे साथियों से मिलूँगा। मैं इस समय बिलकुल भूल गया था कि मैं ६० वर्ष का बूढ़ा हूँ। ज्यों-ज्यों मैं गाँव के निकट आता था, मेरे

पग तेज़ होते जाते थे और हृदय में अकथनीय आनन्द का स्रोत उमड़ रहा था। प्रत्येक वस्तु पर आँखें फाड़-फाड़कर दृष्टि डालता। अहा! यह वही नाला है, जिसमें हम रोज़ घोड़े नहलाते थे और स्वयं भी डुबकियाँ लगाते थे। किंतु अब उसके दोनों ओर काँटेदार तार लगे हुए थे और सामने एक बँगला था, जिसमें दो अँगरेज़ बंदूकें लिये इधर-उधर ताक रहे थे। नाले में नहाने की सख्त मनाही थी।

गाँव में गया, और निगाहें बालपन के साथियों को खोजने लगीं; किंतु शोक! वे सब-के-सब मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। मेरा घर—मेरा टूटा-फूटा झोपड़ा—जिसकी गोद में मैं बरसों खेला था, जहाँ बचपन और बेफ़िक्री के आनंद लूटे थे और जिनका चित्र अभी तक मेरी आँखों में फिर रहा था, वही मेरा प्यारा घर अब मिट्टी का ढेर हो गया था।

२

वह स्थान ग़ैर-आबाद न था। सैकड़ों आदमी चलते-फिरते नज़र आते थे, जो अदालत-कचहरी और थाना-पुलिस की बातें कर रहे थे। उनके मुखों से चिंता, निर्जीवता और उदासी प्रदर्शित होती थी। सब सांसारिक चिंताओं से व्यथित मालूम होते थे। मेरे साथियों के समान हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, लाल चेहरेवाले नवयुवक कहीं न देख पड़ते थे। उस अखाड़े के स्थान पर, जिसकी जड़ मेरे हाथों ने डाली थी, अब एक टूटा-फूटा स्कूल था। उसमें दुर्बल, कांतिहीन, रोगियों की-सी सूरतवाले बालक, फटे कपड़े पहने, बैठे

ऊँघ रहे थे। उनको देखकर सहसा मेरे मुख से निकल पड़ा—'नहीं-नहीं, यह मेरा प्यारा देश नहीं है। यह देश देखने मैं इतनी दूर से नहीं आया हूँ—यह मेरा प्यारा भारतवर्ष नहीं है।'

बरगद के पेड़ की ओर दौड़ा, जिसकी सुहावनी छाया में मैंने बचपन के आनंद उड़ाये थे, जो हमारे छुटपन का क्रीड़ास्थल और युवावस्था का सुखप्रद कुंज था। आह! इस प्यारे बरगद को देखते ही हृदय पर एक बड़ा आघात पहुँचा और दिल में महान् शोक उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ऐसी-ऐसी दुःखदायक तथा हृदय-विदारक स्मृतियाँ ताज़ी हो गईं कि घंटों पृथ्वी पर बैठ-बैठ मैं आँसू बहाता रहा। हा! यही बरगद है, जिसकी डालों पर चढ़कर मैं फुनगियों तक पहुँचता था, जिसकी जटाएँ हमारी झूला थीं और जिसके फल हमें सारे संसार की मिठाइयों से अधिक स्वादिष्ट मालूम होते थे। मेरे गले में बाँहें डालकर खेलनेवाले लँगोटिये यार, जो कभी रूठते थे, कभी मनाते थे, कहाँ गये? हाय, मैं बिना घर-बार का मुसाफ़िर, अब क्या अकेला ही हूँ? क्या मेरा कोई भी साथी नहीं? इस बरगद के निकट अब थाना था और बरगद के नीचे कोई लाल साफ़ा बाँधे बैठा था। उसके आसपास दस-बीस लाल पगड़ीवाले आदमी करबद्ध खड़े थे। वहाँ फटे-पुराने कपड़े पहने एक दुर्भिक्षग्रस्त पुरुष, जिस पर अभी चाबुकों की बौछार हुई थी, पड़ा सिसक रहा था। मुझे ध्यान आया कि यह मेरा प्यारा देश नहीं है, यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर मेरी प्यारी मातृभूमि नहीं है—कदापि नहीं।

इधर से निराश होकर मैं उस चौपाल की ओर चला, जहाँ

शाम के वक्त पिताजी गाँव के अन्य बुज़ुर्गों के साथ हुक्का पीते और हँसी-क़हक़हे उड़ाते थे। हम भी उस टाट के बिछौने पर कला-बाज़ियाँ खाया करते थे। कभी-कभी वहाँ पंचायत भी बैठती थी, जिसके सरपंच सदा पिताजी ही हुआ करते थे। इसी चौपाल के पास एक गोशाला थी, जहाँ गाँव-भर की गायें रक्खी जाती थीं और बछड़ों के साथ हम यहीं कलोलें किया करते थे। शोक! अब उस चौपाल का पता तक न था! वहाँ अब गाँवों में टीका लगाने की चौकी और डाकख़ाना था।

उस समय इसी चौपाल से लगा एक कोल्हवाड़ा था, जहाँ जाड़े के दिनों में ईख पेरी जाती थी और गुड़ की सुगंध से चित्त प्रसन्न हो जाता था। हम और हमारे साथी गँडेरियों के लिए वहाँ बैठे रहते और गँडेरियाँ कतरनेवाले मज़दूरों के हस्त-लाघव को देखकर आश्चर्य किया करते थे। वहाँ हज़ारों बार मैंने कच्चा रस और पक्का दूध मिलाकर पिया था। आसपास के घरों की स्त्रियाँ और बालक अपने-अपने घड़े लेकर वहाँ आते थे और उनमें रस भरकर ले जाते थे। शोक है कि वे कोल्हू अब तक ज्यों-के-त्यों खड़े थे, किंतु कोल्हवाड़े की जगह पर अब एक सन लपेटनेवाली मशीन लगी थी और उसके सामने एक तंबोली और सिगरेटवाले की दूकान थी। इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर मैंने एक आदमी से, जो देखने में सभ्य मालूम होता था, पूछा—'महाशय, मैं एक परदेशी यात्री हूँ, रात-भर लेटे रहने की मुझे आज्ञा दीजिएगा?' इस आदमी ने मुझे सिर से पैर तक गहरी दृष्टि से देखा और बोला—'आगे, जाओ, यहाँ जगह नहीं है।' मैं आगे गया

और वहाँ भी यही उत्तर मिला। पाँचवीं बार एक सज्जन से स्थान माँगने पर उन्होंने एक मुट्ठी चने मेरे हाथ पर रख दिये। चने मेरे हाथ से छूट पड़े और नेत्रों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। मुख से सहसा निकल पड़ा—'हाय, यह मेरा देश नहीं है; यह कोई और देश है। यह हमारा अतिथि-सत्कारी प्यारा भारत नहीं है—कदापि नहीं है।'

मैंने एक सिगरेट की डिबिया खरीदी और एक सुनसान जगह पर बैठकर सिगरेट पीते हुए पूर्व समय की याद करने लगा। अचानक मुझे धर्मशाला का स्मरण हो आया, जो मेरे विदेश जाते समय बन रही थी। मैं उस ओर लपका कि रात किसी प्रकार वहीं काट लूँ, मगर शोक ! शोक !! महान् शोक !!! धर्मशाला ज्यों-की-त्यों खड़ी थी, किंतु उसमें ग़रीब यात्रियों के टिकने के लिए स्थान न था। मदिरा, दुराचार और जुए ने उसे अपना घर बना रक्खा था। यह दशा देखकर विवशतः मेरे हृदय से एक सर्द आह निकल पड़ी और मैं ज़ोर से चिल्ला उठा—'नहीं, नहीं, नहीं, और हज़ार बार नहीं है—यह मेरा प्यारा भारत नहीं है। यह कोई और देश है। यह योरप है, अमेरिका है, मगर भारत कदापि नहीं है।'

४

अँधेरी रात थी। गीदड़ और कुत्ते अपने कर्कश स्वर में गीत गा रहे थे। मैं अपना दुःखित हृदय लेकर उसी नाले के किनारे जाकर बैठ गया और सोचने लगा—अब क्या करूँ ? क्या फिर अपने पुत्रों के पास लौट जाऊँ और अपना यह शरीर अमेरिका की

मिट्टी में मिलाऊँ ? अब तक मेरी मातृभूमि थी; मैं विदेश में ज़रूर था, किंतु मुझे अपने प्यारे देश की याद बनी थी, पर अब मैं देश-विहीन हूँ। मेरा कोई देश नहीं है। इसी सोच-विचार में मैं बहुत देर तक घुटनों पर सिर रक्खे मौन बैठा रहा। रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की। सहसा घंटे वाले ने तीन बजाये और किसी के गाने का शब्द कानों में आया। हृदय गद्गद हो गया! यह तो देश का ही राग है, यह तो मातृभूमि का ही स्वर है! मैं तुरंत उठ खड़ा हुआ और क्या देखता हूँ कि १५-२० वृद्धा स्त्रियाँ, सफ़ेद धोतियाँ पहने, हाथों में लोटे लिये स्नान को जा रही हैं और गाती जाती हैं—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मैं इस गीत को सुनकर तन्मय हो ही रहा था कि इतने में मुझे बहुत आदमियों का बोलचाल सुन पड़ा। उनमें से कुछ लोग हाथों में पीतल के कमंडलु लिये हुए शिव-शिव, हर-हर, गंगे-गंगे, नारायण-नारायण आदि शब्द बोलते हुए चले जाते थे। मधुर, भावमय और प्रभावोत्पादक राग से मेरे हृदय पर जो प्रभाव हुआ, उसका वर्णन करना कठिन है।

मैंने अमेरिका की रमणियों का आलाप सुना था, सहस्रों बार उनकी जिह्वा से प्रेम और प्यार के शब्द सुने थे, उनके हृदयाकर्षक वचनों का आनंद उठाया था, मैंने सुरीले पक्षियों का चहचहाना भी सुना था किंतु जो आनंद, जो मज़ा और जो सुख मुझे इस राग में आया, वह मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। मैंने स्वयं गुनगुनाकर गाया—

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धरो—"

मेरे हृदय में फिर उत्साह आया कि ये तो मेरे प्यारे देश की ही बातें हैं। आनंदातिरेक से मेरा हृदय आनंदमय हो गया। मैं भी इन आदमियों के साथ हो लिया और ६ मील तक पहाड़ी मार्ग पार करके उसी नदी के किनारे पहुँचा, जिसका नाम पतितपावनी है, जिसकी लहरों में डुबकी लगाना और जिसकी गोद में मरना प्रत्येक हिंदू अपना परम सौभाग्य समझता है। पतित-पावनी भागीरथी गंगा मेरे प्यारे गाँव से छः-सात मील पर बहती थी। किसी समय मैं घोड़े पर चढ़कर नित्य स्नान करने जाता था। गंगा माता के दर्शनों की लालसा मेरे हृदय में सदा रहती थी। यहाँ मैंने हज़ारों मनुष्यों को इस ठंडे पानी में डुबकी लगाते हुए देखा। कुछ लोग बालू पर बैठे गायत्री-मंत्र जप रहे थे। कुछ लोग हवन करने में संलग्न थे। कुछ माथे पर तिलक लगा रहे थे और कुछ लोग सस्वर वेद-मंत्र पढ़ रहे थे। मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ और मैं ज़ोर से कह उठा—'हाँ, हाँ, यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है और इसी के दर्शनों की मेरी उत्कट इच्छा थी! इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है।'

५

मैं विशेष आनंद में मग्न था। मैंने अपना पुराना कोट और पतलून उतारकर फेंक दिया और गंगा माता की गोद में जा गिरा, जैसे कोई भोला-भाला बालक दिन-भर निर्दय लोगों के साथ रहने

के बाद संध्या को अपनी प्यारी माता की गोद में दौड़कर चला आवे और उसकी छाती से चिपट जाय। हाँ, अब मैं अपने देश में हूँ। यह मेरी प्यारी मातृभूमि है। ये लोग मेरे भाई हैं और गंगा मेरी माता है।

मैंने ठीक गंगा के किनारे एक छोटी-सी कुटी बनवा ली है। अब मुझे सिवा राम-नाम जपने के और कोई काम नहीं है। मैं नित्य प्रातः-सायं गंगास्नान करता हूँ और मेरी प्रबल इच्छा है कि इसी स्थान पर मेरे प्राण निकलें और मेरी अस्थियाँ गंगा माता की लहरों की भेंट हों।

मेरी स्त्री और मेरे पुत्र बार-बार बुलाते हैं, मगर अब मैं यह गंगा माता का तट और अपना प्यारा देश छोड़कर वहाँ नहीं जा सकता। मैं अपनी मिट्टी गंगा जी को ही सौंपूँगा। अब संसार की कोई आकांक्षा मुझे इस स्थान से नहीं हटा सकती, क्योंकि यह मेरा प्यारा देश और यही प्यारी मातृभूमि है। बस, मेरी उत्कट इच्छा यही है कि मैं अपनी प्यारी मातृभूमि में ही अपने प्राण विसर्जन करूँ।

दिल की रानी

जिन वीर तुर्कों के प्रखर प्रताप से ईसाई-जगत् काँप रहा था, उन्हीं का रक्त आज कुस्तुन्तुनिया की गलियों में बह रहा है। वही कुस्तुन्तुनिया, जो सौ साल पहले तुर्कों के आतंक से आहत हो रहा था, आज उनके गर्म रक्त से अपना कलेजा ठंडा कर रहा है। सत्तर हज़ार तुर्क योद्धाओं की लाशें बासफ़रस की लहरों पर तैर रही हैं और तुर्की सेनापति एक लाख सैनिकों के साथ तैमूरी तेज के सामने अपने भाग्य का निर्णय सुनने के लिए खड़ा है।

तैमूर ने विजय से भरी आँखें उठाईं और सेनापति यज़दानी की ओर देखकर सिंह के समान गरजा—'क्या चाहते हो, जीवन या मृत्यु ?'

यज़दानी ने गर्व से सिर उठाकर कहा—'स-सम्मान जीवन मिले तो जीवन, नहीं तो मृत्यु।'

तैमूर का क्रोध प्रचंड हो उठा। उसने बड़े-बड़े अभिमानियों का सिर नीचा कर दिया था। यह जवाब इस अवसर पर सुनने की उसमें सामर्थ्य न थी। इन एक लाख सैनिकों की जान उसकी मुट्ठी में है। उन्हें वह एक क्षण में मसल सकता है। उस पर भी इतना अभिमान! स-सम्मान जीवन! इसका यही तो अर्थ है कि ग़रीबों का जीवन अमीरों के भोग-विलास पर बलिदान किया जाय; वही शराब की मजलिसें जमें। नहीं, तैमूर ने ख़लीफ़ा बायज़ीद का घमंड इसलिए नहीं तोड़ा है कि तुर्कों को फिर उसी मदान्ध स्वाधीनता में इसलाम का नाम डुबाने को छोड़ दे। तब उसे इतना रक्त बहाने की क्या ज़रूरत थी? मानव-रक्त का प्रवाह संगीत का प्रवाह नहीं, रस का प्रवाह नहीं—वह एक बीभत्स दृश्य है, जिसे देखकर आँखें मुँह फेर लेती हैं, हृदय सिर झुका लेता है। तैमूर कोई हिंसक पशु नहीं है, जो यह दृश्य देखने के लिए अपने जीवन की बाज़ी लगा दे।

वह अपने शब्दों में धिक्कार भरकर बोला—'जिसे तुम स-सम्मान जीवन कहते हो, वह पाप और नरक का जीवन है।'

यज़्दानी को तैमूर से दया या क्षमा की आशा न थी। उसकी या उसके योद्धाओं की जान किसी तरह नहीं बच सकती। फिर वह क्यों दबे और क्यों न जान पर खेलकर तैमूर के प्रति उसके मन में जो घृणा है, उसे प्रकट कर दे। उसने एक बार कातर नेत्रों से उस रूपवान् युवक की ओर देखा, जो उसके पीछे खड़ा, जैसे अपनी जवानी की लगाम खींच रहा था। सान पर चढ़े हुए,

इसपात के समान उसके अंग-अंग से अतुल क्रोध की चिनगारियाँ निकल रही थीं। यज़दानी ने उसकी सूरत देखी, शांति से अपनी खींची हुई तलवार म्यान में कर ली, और रक्त के घूँट पीकर बोला—'जहाँपनाह इस वक्त विजयी हैं; लेकिन अपराध क्षमा हो तो कह दूँ कि अपने जीवन के विषय में तुर्कों को तातारियों से उपदेश लेने की आवश्यकता नहीं। संसार से अलग, तातार के ऊसर मैदानों में, त्याग और व्रत की उपासना की जा सकती है, और न प्राप्त होनेवाले पदार्थों का बहिष्कार किया जा सकता है; पर जहाँ ख़ुदा ने नेमतों की वर्षा की हो, वहाँ उन नेमतों का भोग न करना कृतघ्नता है। अगर तलवार ही सभ्यता का प्रमाण-पत्र होती, तो गाल जाति रोमनों से कहीं अधिक सभ्य होती।'

तैमूर ज़ोर से हँसा और उसके सैनिकों ने तलवारों पर हाथ रख लिये। तैमूर का ठहाका मृत्यु का ठहाका था, या गिरने वाले वज्र का तड़ाका।

'तातार वाले पशु हैं, क्यों ?'

'मैं यह नहीं कहता।'

'तुम कहते हो, ख़ुदा ने तुम्हें भोग-विलास के लिए पैदा किया है। मैं कहता हूँ यह कुफ्र है। ख़ुदा ने मनुष्य को भक्ति के लिए

---

१ उत्तमोत्तम पदार्थ।

२ जो बात इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुकूल न हो, मुस्लिम उसे कुफ्र—अधर्म कहते हैं।

पैदा किया है और इसके विरुद्ध जो कोई कुछ करता है वह काफ़िर[1] है, नारकी है। रसूले-पाक[2] हमारे जीवन को पवित्र करने के लिए, हमें सच्चा मनुष्य बनाने के लिए, आये थे; हमें अधर्म की शिक्षा देने नहीं। तैमूर जगत् को इस कुफ्र से पवित्र कर देने का बीड़ा उठा चुका है। रसूले-पाक के चरणों की शपथ, मैं निर्दय नहीं हूँ, अत्याचारी नहीं हूँ, हिंसक नहीं हूँ, किंतु कुफ्र का दण्ड मेरे धर्म में मृत्यु के सिवा कुछ नहीं है।'

उसने तातारी सैनिक की तरफ़ घातक दृष्टि से देखा और तत्क्षण एक देव-सा आदमी तलवार सौंत कर यज़दानी के सिर पर आ पहुँचा। तातारी सेना भी तलवारें खींच-खींचकर तुर्की सेना पर टूट पड़ी, और दम-के-दम में कितनी ही लाशें पृथ्वी पर फड़कने लगीं।

२

सहसा वही रूपवान् युवक, जो यज़दानी के पीछे खड़ा था, आगे बढ़कर तैमूर के सामने आया और जैसे मौत को अपनी दोनों बँधी हुई मुट्ठियों में मसलता हुआ बोला—'ऐ अपने को मुसलमान कहने वाले बादशाह! क्या यही वह इसलाम है, जिसके प्रचार का तूने बीड़ा उठाया है? इसलाम की यही शिक्षा है कि तू उन बहादुरों

---

१ जो इसलाम धर्म का अवलम्बी न हो, उसे मुस्लिम काफ़िर कहते हैं।

२ ईश्वर के प्रतिनिधि को इसलाम में रसूले-पाक कहते हैं।

का इस निर्दयता से रक्त बहाए, जिन्होंने इसके सिवा कोई पाप नहीं किया कि उन्होंने अपने ख़लीफ़ा[1] और अपने देश की जी-जान से सहायता की।'

चारों ओर सन्नाटा छा गया। एक युवक, जिसकी अभी मसें[2] भी न भीगी थीं, तैमूर जैसे तेजस्वी बादशाह का इतने खुले शब्दों में तिरस्कार करे और उसकी जिह्वा तालू से न खिंचवा ली जाय! सभी स्तम्भित हो रहे थे और तैमूर सम्मोहित-सा बैठा उस युवक की ओर ताक रहा था।

युवक ने तातारी सैनिकों की ओर, जिनके चेहरों पर कुतूहलमय प्रोत्साहन झलक रहा था, देखा और बोला—'तू इन मुसलमानों को काफ़िर कहता है और समझता है कि तू इन्हें जीवनमुक्त करके ख़ुदा और इसलाम की सेवा कर रहा है। मैं तुझसे पूछता हूँ, अगर वह लोग जो ख़ुदा के सिवा और किसी के सामने सिजदा[3] नहीं करते, जो रसूले-पाक को अपना नेता समझते हैं, मुसलमान नहीं हैं, तो कौन मुसलमान है? मैं कहता हूँ हम काफ़िर सही; लेकिन तेरे क़ैदी तो हैं? क्या इसलाम ज़ंजीर में बँधे हुए क़ैदियों के वध की आज्ञा देता है? ख़ुदा ने अगर तुझे शक्ति दी है, अधिकार दिया है, तो क्या इसी लिए कि तू प्राणियों का रक्त बहाए? क्या पापियों का वध करके तू उन्हें सीधे रास्ते पर ले जायगा? तूने कितनी निर्दयता से सत्तर हज़ार बहादुर तुर्कों को

---

१ प्रधान।　२ जवानी भी न फूटी थी।　३ दंडवत।

धोखा देकर सुरंग से उड़वा दिया, और उनके अनजान बच्चों और निरपराध स्त्रियों को अनाथ कर दिया, तुझे कुछ अनुमान है ? क्या यही कारनामे हैं, जिन पर तू अपने मुसलमान होने का गर्व करता है ? क्या इसी वध, रक्त और अन्याय की स्याही से तू संसार में अपना नाम उज्ज्वल करेगा ? तूने तुर्कों के रक्त के बहते दरिया में अपने घोड़ों के सुम नहीं भिगोये हैं, बल्कि इसलाम को जड़ से खोदकर फेंक दिया है। यह वीर तुर्कों का ही आत्मोत्सर्ग है, जिसने यूरोप में इसलाम की तौहीद[1] फैलाई। आज सोफ़िया के गिरजे में तुझे अल्लाह-अकबर की सदा[2] सुनाई दे रही है, सारा यूरोप इसलाम का स्वागत करने को तैयार है। क्या ये कारनामे इसी योग्य हैं कि उनका यह इनाम मिले ? इस विचार को मन से निकाल दे कि तू हिंसा से इसलाम की सेवा कर रहा है। एक दिन तुझे भी परवरदिगार[3] के सामने अपने कर्मों का उत्तर देना पड़ेगा और तेरी कोई हीलहुज्जत न सुनी जायगी; क्योंकि यदि तुझमें अब भी भले और बुरे का विवेक बाक़ी है, तो अपने दिल से पूछ ! तू ने यह धर्मयुद्ध खुदा की राह में किया या अपनी लालसा के लिए; और मैं जानता हूँ तुझे जो जवाब मिलेगा, वह तेरी गर्दन को लज्जा से झुका देगा।'

ख़लीफ़ा अभी सिर झुकाये हुए ही था कि यज़दानी ने काँपते हुए शब्दों में विनती की—'जहाँपनाह, यह दास का लड़का है। इसके दिमाग़ में कुछ गड़बड़ है। हुजूर इसकी अवज्ञाओं को क्षमा करें। मैं उसका दंड झेलने को तैयार हूँ।

१ एकेश्वरवाद २ आवाज़, शब्द ३ ईश्वर-अल्लाह

तैमूर उस युवक के मुख की ओर स्थिर नेत्रों से देख रहा था। आज जीवन में पहली बार उसे ऐसे निर्भीक शब्दों के सुनने का अवसर मिला। उसके सामने बड़े-बड़े सेनापतियों, मन्त्रियों और बादशाहों की जिह्वा न खुलती थी। वह जो कुछ करता या कहता था, वही क़ानून था; किसी को उसमें चूँ करने की शक्ति न थी। उनकी मिथ्या प्रशंसाओं ने उसकी अहंमन्यता को आकाश पर चढ़ा दिया था। उसे विश्वास हो गया था कि ख़ुदा ने उसे इसलाम को जगाने और सुधारने के लिए ही दुनिया में भेजा है। उसने पैग़म्बरी का दावा तो नहीं किया था; पर उसके मन में यह भावना दृढ़ हो गई थी; इसलिए जब आज एक युवक ने प्राणों का मोह छोड़कर उसकी कीर्ति का परदा खोल दिया तो उसकी चेतना जैसे जाग उठी। उसके मन में क्रोध और हिंसा की जगह श्रद्धा का उदय हुआ। उसकी आँखों का एक संकेत इस युवक के जीवन का दीपक बुझा सकता था। उसकी विश्व-विजयिनी शक्ति के सामने यह दुधमुँहा बालक मानों अपने नन्हे-नन्हे हाथों से समुद्र के प्रवाह को रोकने के लिए खड़ा हो। कितना हास्यास्पद साहस था; पर उसके साथ ही कितना आत्मविश्वास से भरा हुआ। तैमूर को ऐसा जान पड़ा कि इस निहत्थे बालक के सामने वह कितना निर्बल है। मनुष्य में ऐसे साहस का एक ही स्रोत हो सकता है और वह है—सत्य पर अटल विश्वास। उसकी आत्मा दौड़कर उस युवक के आंचल में चिमट जाने के लिए अधीर हो गई। वह दार्शनिक न था, जो सत्य में भी शंका करता है। वह सरल सैनिक था, जो असत्य को भी अपने विश्वास से सत्य बना देता है।

यज़दानी ने उसी स्वर में कहा—जहाँपनाह, इसके कठोर भाषण पर ध्यान न दें × × ×।

तैमूर ने तुरंत सिंहासन से उठकर यज़दानी को गले लगा लिया और बोला—काश[1], ऐसी अवज्ञाओं और कठोर भाषणों के सुनने का पहले अवसर मिला होता तो आज इतने निरपराधों का रक्त मेरी गर्दन पर न होता। मुझे इस युवा में किसी देवता की आत्मा का प्रकाश नज़र आता है, जो मुझ-जैसे मार्ग-भ्रष्टों को सच्चा मार्ग दिखाने के लिए भेजी गई है। मेरे मित्र तुम महापुण्यवान् हो कि ऐसे देव-स्वभाव बेटे के बाप हो। क्या मैं उसका नाम पूछ सकता हूँ ?

यज़दानी पहले अग्निपूजक था, पीछे मुसलमान हो गया था; पर अभी तक कभी-कभी उसके मन में शंकाएँ उठती रहती थीं कि उसने क्यों इसलाम अंगीकार किया। जो क़ैदी फाँसी के तख़्ते पर खड़ा सूखा जा रहा था कि एक क्षण में रस्सी उसकी गर्दन में पड़ेगी और वह लटकता रह जायगा, उसे जैसे किसी देवता ने गोद में ले लिया। वह गद्गद कण्ठ से बोला—उसे हबीब कहते हैं।

तैमूर ने युवक के सामने जाकर उसका हाथ पकड़ लिया और उसे आँखों से लगाता हुआ बोला—मेरे युवा मित्र ! तुम सचमुच खुदा के प्रिय हो। मैं वह पापी हूँ, जिसने अपनी अज्ञानता में सदैव अपने पापों को पुण्य समझा, इसलिए कि मुझसे

---

१ क्या ही अच्छा होता

कहा जाता था 'तेरा स्वरूप निष्पाप है।' आज मुझे मालूम हुआ कि मेरे हाथों इसलाम की कितनी हानि हुई। आज से मैं तुम्हारा ही पल्ला पकड़ता हूँ। तुम्हीं मेरे देवता, तुम्हीं मेरे नायक हो। मुझे विश्वास हो गया कि तुम्हारे ही नेतृत्व में मैं ख़ुदा के दरबार तक पहुँच सकता हूँ।

यह कहते हुए उसने युवक के चेहरे पर दृष्टि डाली, तो उस पर लज्जा की लाली छाई हुई थी। उस कठोरता की जगह मधुर संकोच झलक रहा था।

युवक ने सिर झुकाकर कहा—'यह श्रीमान् की गुणज्ञता है, नहीं तो मेरी क्या सत्ता है!'

तैमूर ने उसे खींचकर अपनी बग़ल में तख़्त पर बैठा लिया और अपने सेनापति को आज्ञा दी 'सारे तुर्क क़ैदी छोड़ दिये जायँ, उनके अस्त्र वापस कर दिये जायँ और जो माल लूटा गया है, वह सैनिकों में बराबर बाँट दिया जाय।'

मंत्री तो उधर इस आज्ञा का पालन करने में लगा, इधर तैमूर हबीब का हाथ पकड़े हुए अपने डेरे में गया और दोनों अतिथियों की दावत[1] का प्रबंध करने लगा। जब भोजन समाप्त हो गया, तो उसने अपने जीवन की सारी कथा रो-रोकर कह सुनाई, जो आदि से अन्त तक अमिश्रित पशुता और बर्बरता के कृत्यों से भरी हुई थी। उसने यह सब कुछ इस भ्रम में किया कि वह ईश्वरीय

---

१ भोजन

आदेश का पालन कर रहा है। वह ख़ुदा को कौन मुँह दिखाएगा ? रोते-रोते उसकी हिचकियाँ बँध गईं।

अन्त में उसने हबीब से कहा—मेरे युवा मित्र! अब मेरा बेड़ा आप ही पार लगा सकते हैं। आपने मुझे राह दिखाई है तो अभीष्ट स्थान पर भी पहुँचाइए। मेरी बादशाहत को अब आप ही सँभाल सकते हैं। मुझे अब मालूम हो गया कि मैं उसे विध्वंस के मार्ग पर लिये जाता था। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप उसका मन्त्रिपद स्वीकार करें। देखिए, ख़ुदा के लिए इन्कार न कीजिएगा, वरना मैं कहीं का न रहूँगा।

यज़दानी ने विनती की—हुजूर, इतनी गुणाज्ञता प्रगट करते हैं, यह आपकी कृपा है; लेकिन अभी इस लड़के की अवस्था ही क्या है। मन्त्रि-पद का भार यह कैसे उठा सकेगा ? अभी तो इसके शिक्षा-ग्रहण के दिन हैं।

इधर से निषेध होता रहा और उधर तैमूर आग्रह करता रहा। यज़दानी इन्कार तो कर रहे थे; पर उनकी छाती फूली जाती थी। मूसा आग लेने गये थे, पैग़म्बरी मिल गई। यहाँ मौत के मुँह में जा रहे थे, मन्त्रिपद मिल गया; लेकिन यह शंका भी थी कि ऐसे अस्थिर-चित्त आदमी का क्या ठिकाना ? आज प्रसन्न हुए, मन्त्रिपद देने को तैयार हैं, कल अप्रसन्न हो गये तो जीवन की कुशल नहीं। उन्हें हबीब की योग्यता पर भरोसा तो था, फिर भी मन डरता था कि बिराने देश में न जाने कैसी पड़े, कैसी न पड़े। दरबार वालों में षड्यन्त्र होते ही रहते हैं। हबीब नेक है, समझदार है, अवसर

पहचानता है; लेकिन वह अनुभव कहाँ से लाएगा, जो उम्र ही से आता है ?

उन्होंने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक दिन का अवकाश माँगा और विदा हुए।

२

हबीब यज़दानी का लड़का नहीं, लड़की थी। उसका नाम उम्मतुल हबीब था। जिस वक्त यज़दानी और उसकी पत्नी मुसलमान हुए, तो लड़की की उम्र कुल बारह साल की थी; पर प्रकृति ने उसे बुद्धि और प्रतिभा के साथ विचार-स्वातन्त्र्य भी प्रदान किया था। वह जब तक सत्यासत्य की परीक्षा न कर लेती, कोई बात स्वीकार न करती। माँ-बाप के धर्म-परिवर्तन से उसे अशान्ति तो हुई; पर जब तक इसलाम का अच्छी तरह अध्ययन न कर ले, वह केवल माँ-बाप को प्रसन्न करने के लिए इसलाम की दीक्षा न ले सकती थी। माँ-बाप भी उस पर किसी तरह का दबाव न डालना चाहते थे। जैसे उन्हें अपने धर्म को बदल देने का अधिकार है, वैसे ही उसे अपने धर्म पर आरूढ़ रहने का भी अधिकार है। लड़की को सन्तोष हुआ; लेकिन उसने इसलाम और ज़रतश्त धर्म—दोनों ही का तुलनात्मक अध्ययन आरम्भ किया, और पूरे दो साल के अन्वेषण और परीक्षण के बाद उसने भी इसलाम की दीक्षा ले ली। माता-पिता फूले न समाये। लड़की उनके दबाव से मुसलमान

---

१ पारसी

नहीं हुई है; बल्कि स्वेच्छा से, स्वाध्याय से और सत्य-निष्ठा से। दो साल तक उन्हें जो एक शंका घेरे रहती थी, वह मिट गई।

यज़दानी के कोई पुत्र न था और उस युग में, जब कि आदमी की तलवार ही सब से बड़ा न्यायालय थी, पुत्र का न रहना संसार का सब से बड़ा दुर्भाग्य था। यज़दानी बेटे की अभिलाषा बेटी से पूरी करने लगा। लड़कों की ही भाँति उसकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी। वह बालकों के-से कपड़े पहनती, घोड़े पर सवार होती, शस्त्र-विद्या सीखती और अपने बाप के साथ प्रायः खलीफ़ा बायज़ीद के महलों में जाती और राजकुमारों के साथ शिकार खेलती। इसके साथ ही वह दर्शन, काव्य, विज्ञान और अध्यात्म का भी अभ्यास करती थी। यहाँ तक कि सोलहवें वर्ष में वह सैनिक-विद्यालय में प्रविष्ट हुई और दो साल के भीतर वहाँ की सब से ऊँची परीक्षा पास करके सेना में नौकर हो गई। शस्त्र-विद्या और सैन्य-सञ्चालन-कला में वह इतनी निपुण थी और खलीफ़ा बायज़ीद उसके चरित्र से इतना प्रसन्न था कि पहले ही पहल उसे एकहज़ारी पद मिल गया। ऐसी युवती के चाहने वालों की क्या कमी? उसके साथ के कितने ही पदाधिकारी, राज-परिवार के कितने ही युवक उस पर प्राण देते थे; पर कोई उसकी दृष्टि में न जँचता था। नित्य ही निकाह[1] के संदेश आते रहते थे; पर वह सदा अस्वीकार कर देती थी। वैवाहिक जीवन ही से उसे अरुचि थी। उसकी स्वाधीन प्रकृति इस बंधन में न

१ विवाह

पढ़ना चाहती थी। फिर नित्य ही वह देखती थी कि युवतियाँ कितनी चाह से ब्याह कर लाई जाती हैं और फिर कितने निरादर से महलों में बंद कर दी जाती हैं। उनका भाग्य पुरुषों की दया के अधीन है। प्रायः ऊँचे घरानों की महिलाओं से उसको मिलने-जुलने का अवसर मिलता था। उनके मुख से उनकी करुण कथा सुन-सुनकर वह वैवाहिक बंधनों से और भी घृणा करने लगती थी। यज़दानी उसकी स्वाधीनता में बिलकुल बाधा न देता था। लड़की स्वाधीन है। उसकी इच्छा हो, विवाह करे या क्वाँरी रहे; वह अपनी आप प्रतिनिधि है। उसके पास संदेश आते, तो वह स्पष्ट उत्तर दे देता—मैं इस बारे में कुछ नहीं जानता, इसका निर्णय वही करेगी। यद्यपि एक युवती का पुरुष-वेष में रहना, युवकों से मिलना-जुलना समाज में आलोचना का विषय था; पर यज़दानी और उसकी स्त्री दोनों ही को उसके सतीत्व पर विश्वास था। हबीब के व्यवहार और आचार में उन्हें कोई ऐसी बात दिखाई न देती थी, जिससे उन्हें किसी तरह की शंका होती। यौवन की आँधी और लालसाओं के तूफ़ान में भी वह चौबीस वर्षों की वीरबाला अपने हृदय की सम्पत्ति लिये अटल और अजेय खड़ी थी, मानों सभी युवक उसके सगे भाई हैं।

४

कुस्तुन्तुनिया में कितने उत्सव मनाये गये, हबीब का कितना सम्मान और स्वागत हुआ, उसे कितनी बधाइयाँ मिलीं; यह सब लिखने की बात नहीं। शहर नष्ट हुआ जाता था। सम्भव

था, आज उसके महलों और बाज़ारों से आग की लपटें निकलती होतीं। राज्य और नगर को उस कल्पनातीत विपत्ति से बचाने वाला आदमी कितने आदर, प्रेम, श्रद्धा और उल्लास का पात्र होगा, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। उस पर कितने फूलों और कितने लाल और जवाहर की वर्षा हुई, इसका अनुमान तो कोई कवि ही कर सकता है। और नगर की महिलाएँ हृदय के अक्षय भण्डार से असीसें निकाल-निकालकर उस पर लुटाती थीं और गर्व से फूली हुई उसका मुख निहारकर अपने को धन्य मानती थीं। उसने देवियों का मस्तक ऊँचा कर दिया था।

रात को तैमूर के प्रस्ताव पर विचार होने लगा। सामने गद्देदार कुर्सी पर यज़दानी था—सौम्य, विशाल और तेजस्वी। उसकी दाहिनी तरफ़ उसकी पत्नी थी, ईरानी पोशाक में, आँखों में दया और विश्वास की ज्योति भरे हुए। बाईं तरफ़ उम्मतुल हबीब थी, जो इस समय रमणी-वेष-मोहिनी बनी हुई थी, ब्रह्मचर्य के तेज से दीप्त।

यज़दानी ने प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा—मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहना चाहता; लेकिन यदि मुझे सम्मति देने का अधिकार है, तो मैं स्पष्ट कहता हूँ कि तुम्हें इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार न करना चाहिए। तैमूर से यह बात बहुत दिनों तक छिपी नहीं रह सकती कि तुम क्या हो। उस समय क्या परिस्थिति होगी, मैं नहीं कह सकता। और यहाँ इस विषय में जो कुछ टिप्पणियाँ होंगी, वह तुम मुझसे अधिक जानती हो। यहाँ मैं उपस्थित था और

कुत्सा को मुँह न खोलने देना था; पर वहाँ तुम अकेली रहोगी और कुत्सा को मनमाने आरोप करने का अवसर मिलता रहेगा।

उसकी पत्नी स्वेच्छा को इतना महत्त्व न देना चाहती थी। बोली—मैंने सुना है, तैमूर आचार का अच्छा आदमी नहीं है। मैं किसी तरह तुझे न जाने दूँगी। कोई बात हो जाय तो सारी दुनिया हँसे। यों ही हँसने वाले क्या कम हैं?

इसी तरह स्त्री-पुरुष बड़ी देर तक ऊँच-नीच सुझाते और तरह-तरह की शंकाएँ करते रहे; लेकिन हबीब मौन साधे बैठी थी। यज़दानी ने समझा, हबीब भी उनसे सहमत है। इनकार की सूचना देने के लिए उठा ही था कि हबीब ने पूछा—आप तैमूर से क्या कहेंगे?

'यही, जो यहाँ तय हुआ है।'

'मैंने तो अभी कुछ नहीं कहा।'

'मैंने तो समझा, तुम भी हमसे सहमत हो।'

'जी नहीं। आप उनसे जाकर कह दें, मैं स्वीकार करती हूँ।'

माता ने छाती पर हाथ रखकर कहा—यह क्या अँधेर करती है बेटी, सोच तो दुनिया क्या कहेगी?

यज़दानी भी सिर थामकर बैठ गये, मानों हृदय में गोली लग गई हो। मुँह से एक शब्द भी न निकला।

हबीब त्योरियों पर बल डालकर बोली—'अम्मीजान[1], मैं

---

1 पूज्य माता

आपके आदेश से जौ-भर भी मुँह नहीं मोड़ना चाहती। आपको पूरा अधिकार है, मुझे जाने दें या न दें; लेकिन जनता की सेवा का ऐसा अवसर शायद मुझे जीवन में फिर न मिले। इस अवसर को हाथ से खो देने का दुःख मुझे जीवनपर्यंत रहेगा। मुझे निश्चय है कि अमीर तैमूर को मैं अपनी पवित्रता, निष्काम और सच्ची भक्ति से अच्छा मनुष्य बना सकती हूँ और शायद उसके हाथों प्राणियों का रक्त इतनी अधिकता से न बहे। वह साहसी है; किंतु निर्दय नहीं। कोई साहसी पुरुष निर्दय नहीं हो सकता। उसने अब तक जो कुछ किया है, धर्म के अंधे जोश में किया है। आज खुदा ने मुझे वह अवसर दिया है कि मैं उसे दिखा दूँ कि धर्म, सेवा का नाम है; लूट और क़त्ल का नहीं। अपने बारे में मुझे सर्वथा भय नहीं है। मैं अपनी रक्षा आप कर सकती हूँ। मुझे गर्व है कि अपने कर्तव्य को सचाई से पालन करके मैं शत्रुओं की जिह्वा भी बंद कर सकती हूँ; और मान लीजिए मुझे असफलता भी हो, तो क्या सचाई और स्वत्व के लिए बलिदान हो जाना जीवन की सब से शानदार विजय नहीं है? अब तक मैंने जिस नियम पर जीवन-निर्वाह किया है, उसने मुझे धोखा नहीं दिया और उसी के प्रताप से आज मुझे वह पद प्राप्त हुआ है, जो बड़ों-बड़ों के लिए जीवन का स्वप्न है। ऐसे परीक्षित मित्र मुझे कभी धोखा नहीं दे सकते। तैमूर पर मेरी वास्तविकता प्रकट भी हो जाय, तो क्या भय? मेरी तलवार मेरी रक्षा कर सकती है। शादी के संबंध में मेरे विचार आपको मालूम हैं। अगर मुझे कोई ऐसा आदमी मिलेगा, जिसे मेरी आत्मा स्वीकार करती हो, जिसकी अधीनता में अपने

अस्तित्व को खोकर मैं अपनी आत्मा को ऊँचा उठा सकूँ, तो मैं उसके चरणों पर गिरकर अपने को उसकी भेंट कर दूँगी।

यज़दानी ने प्रसन्न होकर बेटी को गले लगा लिया। उसकी स्त्री इतनी शीघ्र आश्वस्त न हो सकी। वह किसी तरह बेटी को अकेली न छोड़ेगी। उसके साथ वह भी जायगी।

५

कई महीने बीत गये। युवक हबीब तैमूर का वज़ीर है; लेकिन वास्तव में वही बादशाह है। तैमूर उसी की आँखों से देखता है, उसी के कानों से सुनता है और उसी की बुद्धि से सोचता है। वह चाहता है, हबीब आठों पहर उसके पास रहे। उसके सामीप्य में उसे स्वर्ग-का-सा सुख मिलता है। समरक़न्द में एक प्राणी भी ऐसा नहीं, जो उससे जलता हो। उसके व्यवहार ने सभी को मुग्ध कर लिया है; क्योंकि वह न्याय से जौ भर भी पीछे नहीं हटता। जो लोग उसके हाथों चलती हुई न्याय की चक्की में पिस जाते हैं, वे भी उससे सद्भाव ही रखते हैं; क्योंकि वह न्याय को आवश्यकता से अधिक कटु नहीं होने देता।

संध्या हो गई थी। राज्य-कर्मचारी जा चुके थे। शमादान[1] में मोम की बत्तियाँ जल रही थीं। अगर की सुगंध से सारा दीवान महक रहा था। हबीब भी उठने ही को था कि चोबदार ने ख़बर दी—हुज़ूर, जहाँपनाह तशरीफ़ ला रहे हैं।

---

१ मोमबत्तियों के जलाने का आधार

हबीब इस खबर से कुछ प्रसन्न नहीं हुआ। अन्य मन्त्रियों की भाँति वह तैमूर के निकट-वास का भूखा नहीं है। वह हमेशा तैमूर से दूर रहने की चेष्टा करता है। ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि उसने शाही दस्तरख्वान[1] पर भोजन किया हो। तैमूर की विलास-सभाओं में भी वह कभी शामिल नहीं होता। उसे जब शांति मिलती है, तब वह एकांत में अपनी माता के पास बैठकर दिन भर का वृत्तांत उससे कहता है और वह उस पर अपनी पसंद की मुहर लगा देती है।

उसने द्वार पर जाकर तैमूर का स्वागत किया। तैमूर ने सिंहासन पर बैठते हुए कहा—मुझे आश्चर्य होता है कि तुम इस युवावस्था में विरक्तों का-सा जीवन कैसे व्यतीत करते हो हबीब! खुदा ने तुम्हें वह सौंदर्य दिया है। संसार की सुंदर-से-सुंदर कोमलांगी भी तुम्हारी प्रियतमा बनकर अपने को भाग्यवान् समझेगी। मालूम नहीं, तुम्हें खबर है या नहीं, जब तुम अपने मुश्की घोड़े पर सवार होकर निकलते हो, तो समरक़न्द की खिड़कियों पर हज़ारों आँखें तुम्हारी एक झलक देखने के लिए प्रतीक्षा में बैठी रहती हैं; पर तुम्हें किसी ने किसी ओर आँखें उठाते नहीं देखा। मेरा खुदा साक्षी है, मैं कितना चाहता हूँ कि तुम्हारे चरण-चिह्नों पर चलूँ; पर दुनिया मेरी गर्दन नहीं छोड़ती। क्यों अपने पवित्र जीवन का जादू मुझ पर नहीं डालते? मैं चाहता हूँ, जैसे तुम दुनिया में रहकर भी दुनिया से अलग रहते हो, वैसे

१ एक बहुत बढ़िया चादर जिस पर बड़े आदमियों का भोजन रक्खा जाता है

मैं भी रहूँ, लेकिन मेरे पास न वह दिल है, न वह दिमाग़। मैं हमेशा अपने आप पर, सारी दुनिया पर, दाँत पीसता रहता हूँ। जैसे मुझे प्रतिक्षण रक्त की प्यास लगी रहती है, जिसे तुम बुझने नहीं देते, और यह जानते हुए भी कि तुम जो कुछ करते हो, इससे अच्छा कोई दूसरा नहीं करेगा, मैं अपने क्रोध को वश में नहीं कर सकता। तुम जिधर से निकलते हो, प्रेम और प्रकाश फैला देते हो। जिसको तुम्हारा शत्रु होना चाहिए, वह भी तुम्हारा मित्र है। मैं जिधर से निकलता हूँ, घृणा और शंका फैलाता हुआ निकलता हूँ। जिसे मेरा मित्र होना चाहिए, वह भी मेरा शत्रु है। दुनिया में बस यही एक जगह है, जहाँ मुझे शांति मिलती है। अगर तुम समझते हो, यह मुकुट और सिंहासन मेरे रास्ते के रोड़े हैं, तो ख़ुदा की क़सम मैं आज इन पर लात मार दूँ। मैं आज तुम्हारे पास यही विज्ञप्ति लेकर आया हूँ कि तुम मुझे वह मार्ग दिखाओ, जिससे मैं सच्चा आनन्द प्राप्त कर सकूँ। मैं चाहता हूँ, तुम मेरे महल में रहो ताकि मैं तुम से सच्चे जीवन की शिक्षा प्राप्त कर सकूँ।

हबीब का हृदय धक् से हो उठा। कहीं अमीर पर उसके नारीत्व का रहस्य खुल तो नहीं गया? उसकी समझ में न आया कि उसे क्या उत्तर दे। उसका कोमल हृदय तैमूर की इस करुण आत्मग्लानि पर द्रवित हो गया। जिसके नाम से दुनिया काँपती है, वह उसके सामने एक दयनीय प्रार्थी बना हुआ उससे प्रकाश की भिक्षा माँग रहा है! तैमूर की उस कठोर, विकृत, शुष्क, हिंसा-त्मक मुद्रा में उसे एक स्निग्ध मधुर ज्योति दिखाई दी, मानों उसका जाग्रत विवेक भीतर से झाँक रहा हो। उसे अपना स्थिर

जीवन, जिसमें ऊपर उठने की स्फूर्ति ही न रही थी, इस विफल उद्योग के सामने तुच्छ जान पड़ा।

उसने मुग्ध कण्ठ से कहा—श्रीमान इस सेवक का इतना सम्मान करते हैं, यह मेरा अहोभाग्य है; लेकिन मेरा शाही महल में रहना उचित नहीं।

तैमूर ने पूछा—'क्यों?'

'इसलिए कि जहाँ दौलत बहुत होती है, वहाँ डाके पड़ते हैं और जहाँ आदर-मान अधिक होता है, वहाँ शत्रु भी अधिक होते हैं।'

'तुम्हारा शत्रु भी कोई हो सकता है?'

'मैं स्वयं अपना शत्रु हो जाऊँगा। मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु अहंकार है।'

तैमूर को जैसे कोई रत्न मिल गया। उसे अपनी मनस्तुष्टि का आभास हुआ। 'मनुष्य का सब से बड़ा शत्रु अहंकार है' इस वाक्य को मन-ही-मन दोहरा कर उसने कहा—तुम मेरे वश में कभी न आओगे हबीब! तुम वह पक्षी हो, जो आकाश में ही उड़ सकता है। उसे सोने के पिंजरे में भी रखना चाहो तो फड़फड़ाता रहेगा। अच्छा, [1]खुदा हाफ़िज़!

वह तुरंत अपने महल की ओर चला, मानों उस रत्न को सुरक्षित स्थान में रख देना चाहता हो। यह वाक्य आज पहली

१ प्रभु रक्षा करे

बार उसने न सुना था; पर आज इसमें जो ज्ञान, जो आदेश, जो सत्प्रेरणा उसे मिली, वह कभी न मिली थी।

६

इस्तख़र के प्रदेश से विद्रोह का समाचार आया है। हबीब को शंका है कि तैमूर वहाँ पहुँचकर कहीं नर-संहार न कर दे। वह शांतिमय उपायों से इस विद्रोह को ठंडा करके तैमूर को दिखाना चाहता है कि सद्भावना में कितनी शक्ति है। तैमूर उसे इस दुःसाध्य काम पर भेजना नहीं चाहता; लेकिन हबीब के आग्रह के सामने बेबस है। हबीब को जब और कोई युक्ति न सूझी, तो उसने कहा—सेवक के रहते हुए हुजूर अपनी जान संकट में डालें, यह नहीं हो सकता।

तैमूर मुस्कराया—मेरी जान का तुम्हारी जान के आगे कोई मूल्य नहीं है हबीब! फिर मैंने तो कभी जान की परवाह नहीं की। मैंने दुनिया में क़त्ल और लूट के सिवा और क्या स्मृति छोड़ी है? मेरे मर जाने पर दुनिया मेरे नाम को रोएगी नहीं, निश्चय रक्खो। मेरे-जैसे लुटेरे हमेशा पैदा होते रहेंगे; लेकिन खुदा न करे, तुम्हारे दुश्मनों को कुछ हो गया, तो यह राज्य मिट्टी में मिल जायगा, और तब मुझे भी हृदय में ख़ंजर चुभा लेने के सिवा और कोई मार्ग न रहेगा। मैं नहीं कह सकता हबीब, तुमसे मैंने कितना पाया। काश, दस-पाँच साल पहले तुम मुझे मिल जाते, तो तैमूर इतिहास में इतना निन्दित न होता। आज अगर ज़रूरत पड़े तो मैं अपने जैसे सौ तैमूरों को तुम्हारे ऊपर निछावर

कर दूँ। यही समझ लो कि तुम मेरी आत्मा को अपने साथ लिये जा रहे हो। आज मैं तुम से कहता हूँ हबीब! कि मुझे तुम से प्रेम है, वह प्रेम जो मुझे आज तक किसी सुंदरी से नहीं हुआ। प्रेम क्या वस्तु है, इसे मैं अब जान पाया हूँ। मगर इसमें क्या बुराई है कि मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ?

हबीब ने धड़कते हुए हृदय से कहा—अगर मैं आपकी आवश्यकता समझूँगा तो, सूचना दूँगा।

तैमूर ने दाढ़ी पर हाथ रखकर कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। लेकिन नित्य-प्रति दूत भेजते रहना, नहीं तो शायद मैं बेचैन होकर चला आऊँ।

तैमूर ने कितने स्नेह से हबीब की यात्रा की तैयारियाँ कीं। तरह-तरह के आराम और सुखद वस्तुओं का उसके लिए संग्रह किया। उस कोहिस्तान में ये वस्तुएँ कहाँ मिलेंगी। वह ऐसा संलग्न था, मानों माता अपनी लड़की को सुसराल भेज रही हो।

जिस समय हबीब सेना के साथ चला, तो सारा समरक़न्द उसके साथ था। और तैमूर आँखों पर रूमाल रक्खे, अपने सिंहासन पर ऐसा सिर झुकाये बैठा हुआ था, मानों कोई पक्षी आहत हो गया हो।

७

इस्तख़र अरमनी ईसाइयों का प्रदेश था। मुसलमानों ने उन्हें परास्त करके वहाँ अपना अधिकार जमा लिया था और ऐसे

नियम बना दिये थे, जिनसे ईसाइयों को पग-पग पर अपनी पराधीनता का स्मरण होता रहता था। पहला नियम जज़िया का था, जो हरेक ईसाई को देना पड़ता था, जिससे मुसलमान मुक्त थे। दूसरा नियम यह था कि गिरजों में घण्टा न बजे। तीसरा नियम मदिरा का निषेध था, जिसे मुसलमान हराम समझते थे। ईसाइयों ने इन नियमों का क्रियात्मक विरोध किया और जब मुसलमान अधिकारियों ने शस्त्रबल से काम लेना चाहा, तो ईसाइयों ने विद्रोह कर दिया, मुसलमान सूबेदार को क़ैद कर लिया और क़िले पर सलीबी झण्डा उड़ने लगा।

हबीब को यहाँ आये आज दूसरा दिन है; पर इस समस्या को कैसे हल करे। उसका उदार हृदय कहता था, ईसाइयों पर इन बंधनों का कोई अर्थ नहीं, हरेक धर्म का समान रूप से आदर होना चाहिए; लेकिन मुसलमान इन क़ैदों को उठा देने पर कभी न राज़ी होंगे। और यह लोग मान भी जायँ तो तैमूर क्यों मानने लगा? उसके धार्मिक विचारों में कुछ उदारता आई है, फिर भी वह इन क़ैदों को उठाना कभी स्वीकार न करेगा; लेकिन क्या वह इसलिए ईसाइयों को दण्ड दे कि वे अपनी धार्मिक स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं। जिसे वह न्याय समझता है, उसकी हत्या कैसे करे? नहीं, उसे न्याय का पालन करना होगा, चाहे इसका परिणाम कुछ भी हो। अमीर समझेंगे, मैं ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ा जा रहा हूँ। कोई हर्ज़ नहीं।

---

१ धर्मविरुद्ध।

दूसरे दिन हबीब ने प्रातःकाल डंके की चोट घोषणा कराई—जज़िया माफ़ किया गया, शराब और घण्टों पर कोई क़ैद नहीं है।

मुसलमानों में भारी हलचल मच गई। यह कुफ़्र है, अधर्म-पापरा है। अमीर तैमूर ने जिस इस्लाम को अपने रक्त से सींचा, उसकी जड़ उन्हीं के वज़ीर हबीब पाशा के हाथों खुद रही है! पाँसा पलट गया। शाही फ़ौजें मुसलमानों से जा मिलीं। हबीब ने इस्तख़र के क़िले में रक्षा ग्रहण की। मुसलमानों की शक्ति शाही फ़ौज के मिल जाने से बहुत बढ़ गई थी। उन्होंने क़िला घेर लिया और यह समझकर कि हबीब ने तैमूर से विद्रोह किया है, तैमूर के पास इसकी सूचना देने और परिस्थिति समझाने के लिए दूत भेजा।

८

आधी रात गुज़र चुकी थी। तैमूर को दो दिनों से इस्तख़र का कोई समाचार न मिला था। तरह-तरह की शंकाएँ हो रही थीं। मन में पछतावा हो रहा था कि उसने क्यों हबीब को अकेला जाने दिया। माना कि वह बड़ा नीतिकुशल है; पर विद्रोह ने कहीं बल पकड़ लिया, तो मुट्ठी भर आदमियों से वह क्या कर सकेगा? और विद्रोह निश्चय बल पकड़ेगा। वहाँ के ईसाई बड़े उद्दंड हैं। जब उन्हें मालूम होगा कि तैमूर की तलवार में ज़ंग लग गया और उसे अब महलों की ज़िन्दगी अधिक प्रिय है, तो उनकी हिम्मतें

दूनी हो जायँगी। हबीब कहीं दुश्मनों में घिर गया, तो बड़ा अंधेर हो जायगा।

उसने अपनी जाँघ पर हाथ मारा और करवट बदलकर अपने ऊपर झुँझलाया। वह इतना हतोत्साह क्यों हो गया? क्या उसका तेज और शौर्य उससे विदा हो गया? जिसका नाम सुनकर दुश्मनों में कम्पन पड़ जाता था, वह आज अपना मुँह छिपाकर महलों में बैठा हुआ है। संसार की आँखों में इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि तैमूर अब मैदान का शेर नहीं, क़ालीन का शेर हो गया। हबीब देवता है, जो मनुष्य की बुराइयों से परिचित नहीं। जो करुण, हृदय का स्वच्छ और निःस्वार्थ है। वह क्या जाने मनुष्य कितना धूर्त्त हो सकता है। शांति के दिनों में तो ये बातें जाति और देश को उन्नति के मार्ग पर ले जाती हैं; पर युद्ध में, जब कि आसुरी जोश का भारी तूफ़ान उठता है, इन खूबियों को अवकाश नहीं। उस वक्त तो उसी की जीत होती है, जो मानव-रक्त का रंग खेले, खेतों-खलियानों की होली जलाये, जंगलों को बसाये और बस्तियों को उजाड़ दे। शांति का नियम युद्ध के नियम से बिलकुल अलग है।

सहसा चोबदार ने इस्तख़र से एक दूत के आने की ख़बर दी। दूत ने ज़मीन चूमी और एक किनारे सम्मानपूर्वक खड़ा हो गया। तैमूर का आतंक ऐसा छा गया कि जो कुछ कहने आया था, वह सब भूल गया।

तैमूर ने त्योरियाँ चढ़ाकर पूछा—क्या समाचार लाया

है ? तीन दिन के बाद आया भी तो इतनी रात गये ?

दूत ने फिर ज़मीन चूमी और बोला—हुज़ूर, वज़ीर साहब ने जज़िया माफ़ कर दिया।

तैमूर गरज उठा—क्या कहता है, जज़िया माफ़ कर दिया ?

'हाँ, हुज़ूर।'

'किसने ?'

'वज़ीर साहब ने।'

'किसके हुकुम से ?'

'अपने हुकुम से हुज़ूर।'

'हूँ।'

'और हुज़ूर, शराब का भी हुकुम दे दिया।'

'हूँ।'

'गिरजों में घण्टे बजाने का भी हुकुम हो गया।'

'हूँ।'

'और ख़ुदावन्द ! ईसाइयों से मिलकर मुसलमानों पर हमला कर दिया।'

'तो मैं क्या करूँ।'

'हुज़ूर हमारे स्वामी हैं। अगर हमारी कुछ मदद न हुई, तो वहाँ एक मुसलमान भी जीवित न बचेगा।'

'हबीब पाशा इस समय कहाँ है ?'

'इस्तख़र के क़िले में हुज़ूर।'

'और मुसलमान क्या कर रहे हैं ?'

'हमने ईसाइयों को क़िले में घेर लिया है।'

'उन्हीं के साथ हबीब को भी ?'

'हाँ हुज़ूर, वह राजद्रोही हो गये हैं।'

'और इसलिए मेरे विश्वसनीय इस्लाम के सेवकों ने उन्हें क़ैद कर रक्खा है। सम्भव है मेरे पहुँचते-पहुँचते उन्हें जीवन से रहित भी कर दें। नीच ! दूर हो जा मेरे सामने से। मुसलमान समझते हैं, हबीब मेरा नौकर है और मैं उसका स्वामी। यह ग़लत है, झूठ है। इस राज्य का स्वामी हबीब है, तैमूर उसका तुच्छ ग़ुलाम है। उसके फ़ैसले में तैमूर हस्तक्षेप नहीं कर सकता। निस्सन्देह जज़िया माफ़ होना चाहिए। मुझे कोई अधिकार नहीं है कि विधर्मियों से उनके धर्म का कर लूँ; कोई अधिकार नहीं है। अगर मस्जिद में बाँग होती है, तो गिरजा में घण्टा क्यों न बजे ? घण्टे के शब्द में अधर्म नहीं है। सुनता है नीच ! घण्टे की आवाज़ में कुफ़् नहीं है। काफ़िर वह है, जो दूसरों का अधिकार छीन ले, जो ग़रीबों को सताये, जो कपटी हो, स्वार्थी हो। काफ़िर वह नहीं, जो मिट्टी या पत्थर के टुकड़े में ईश्वर का प्रकाश देखता हो, जो नदियों और पहाड़ों में, दरख़्तों और झाड़ियों में, परमात्मा का वैभव प्राप्त करता है। वह हमसे और तुझसे अधिक ईश्वर-भक्त है, जो मस्जिद में ख़ुदा को बंद समझते हैं। तू समझता है, मैं कुफ़् बक रहा हूँ ? किसी को काफ़िर समझना ही कुफ़् है। हम सब एक ईश्वर की सन्तान हैं, सब। बस, जा उन राजद्रोही मुसलमानों से कह दे, अगर तुरंत घेरा न उठा लिया गया, तो तैमूर प्रलय की तरह आ पहुँचेगा।'

दूत हतबुद्धि-सा खड़ा ही था कि बाहर खतरे का बिगुल बज उठा और सेनाएँ किसी समर-यात्रा की तैयारी करने लगीं।

६

तीसरे दिन तैमूर इस्तख़र पहुँचा, तो क़िले का घेरा उठ चुका था। क़िले की तोपों ने उसका स्वागत किया। हबीब ने समझा तैमूर ईसाइयों को दंड देने आ रहा है। ईसाइयों के हाथ-पाँव फूले हुए थे; मगर हबीब युद्ध के लिए तैयार था। ईसाइयों के स्वत्व की रक्षा में यदि उसकी जान भी जाय, तो कोई शोक नहीं। इस विषय पर किसी तरह का समझौता नहीं हो सकता। तैमूर अगर तलवार से काम लेना चाहता है, तो उसका जवाब तलवार से दिया जायगा।

मगर यह क्या बात है! शाही सेना सफ़ेद झण्डा दिखा रही है। तैमूर लड़ने नहीं, संधि करने आया है। उसका स्वागत दूसरी तरह का होगा। ईसाई सरदारों को साथ लिये हबीब क़िले से बाहर निकला। तैमूर अकेला घोड़े पर सवार चला आ रहा था। हबीब घोड़े से उतरा और झुककर सलाम किया। तैमूर भी घोड़े से उतर पड़ा और हबीब का माथा चूम लिया और बोला—मैं सब सुन चुका हूँ हबीब! तुमने बहुत अच्छा किया और वही किया, जो तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नहीं कर सकता था। मुझे कर लेने का या ईसाइयों के धार्मिक अधिकार छीनने का कोई हक़ न था। मैं आज दरबार करके इन बातों का समर्थन कर दूँगा और तब मैं एक ऐसा प्रबन्ध करूँगा, जो कई दिन से मेरी बुद्धि में आ रहा

है, और मुझे आशा है कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे। स्वीकार करना पड़ेगा।

हबीब के चेहरे का रंग उड़ रहा था। कहीं भेद खुल तो नहीं गया ? वह कौन-सा प्रबन्ध है, उसके मन में खलबली पड़ गई।

तैमूर ने मुस्कराकर पूछा—तुम मुझसे लड़ने को तैयार थे ?

हबीब ने शरमाते हुए कहा—अधिकार के सामने अमीर तैमूर की भी कोई स्थिरता नहीं।

'बेशक-बेशक ! तुम में देवताओं का दिल है, तो शेरों का साहस भी है; लेकिन दुःख यही है कि तुमने यह अनुमान ही क्यों किया कि तैमूर तुम्हारे निर्णय को रद्द कर सकता है ? यह तुम्हारा व्यक्तित्व है, जिसने मुझे बतलाया है कि देश किसी पुरुष की घरेलू संपत्ति नहीं; बल्कि एक ऐसा वृक्ष है, जिसकी हरेक शाखा और पत्ती एक-सा भोजन पाती है'।

दोनों क़िले में प्रविष्ट हुए। सूरज डूब चुका था। आन-की-आन में दरबार लग गया और उसमें तैमूर ने ईसाइयों के धार्मिक अधिकारों को स्वीकार किया।

चारों तरफ़ से आवाज़ आई—ख़ुदा हमारे शाहंशाह की आयु दीर्घ करे।

तैमूर ने उसी प्रकरण में कहा—मित्रो, मैं इस आशीर्वाद का पात्र नहीं हूँ। जो वस्तु मैंने आपसे बलपूर्वक छीन ली थी, उसे आपको वापस देकर मैं आशीर्वाद का काम नहीं कर रहा

हूँ। इससे कहीं अधिक उचित यह है कि आप मुझे धिक्कार दें कि मैंने इतने दिनों तक आपके अधिकारों से आपको वंचित रक्खा।

चारों तरफ़ से आवाज़ आई—धन्य हो! धन्य हो!!

'मित्रो, उन अधिकारों के साथ-साथ मैं आपका राज्य भी आपको वापस करता हूँ; क्योंकि ख़ुदा की दृष्टि में सभी पुरुष समान हैं और किसी जाति या पुरुष को दूसरी जाति पर शासन करने का हक़ नहीं है। आज से आप अपने बादशाह हैं। मुझे उम्मीद है कि आप भी मुस्लिम जनता को उसके उचित अधिकारों से वंचित न करेंगे। अगर कभी कोई ऐसा अवसर आए कि कोई बलवान् जाति आपकी स्वतन्त्रता छीनने का यत्न करे, तो तैमूर आपकी मदद करने को सदा तैयार रहेगा।'

१०

क़िले में उत्सव समाप्त हो चुका है। उमरा और अधिकारि-वर्ग विदा हो चुके हैं। दीवाने-ख़ास में सिर्फ तैमूर और हबीब रह गये हैं। हबीब के मुख पर आज स्मित हास्य की वह छटा है, जो सदैव गंभीरता के नीचे दबी रहती थी। आज उसके कपोलों पर जो लाली, आँखों में जो नशा, अंगों में जो चंचलता है, वह तो और कभी नज़र न आई थी। वह कई बार तैमूर से शोख़ियाँ कर चुका है, कई बार हँसी कर चुका है। उसकी युवती चेतना, पद और अधिकार को भूलकर चहकती फिरती है।

सहसा तैमूर ने कहा—हबीब, मैंने आज तक तुम्हारी हरेक बात मानी है। अब मैं तुमसे यह बात कहता हूँ, जिसकी मैंने पहले चर्चा की थी, उसे तुम्हें स्वीकार करना पड़ेगा।

हबीब ने धड़कते हुए हृदय से सिर झुकाकर कहा—आज्ञा कीजिए!

'पहले प्रण करो कि तुम स्वीकार करोगे।'

'मैं तो आपका सेवक हूँ।'

'नहीं, तुम मेरे मालिक हो, मेरे जीवन का प्रकाश हो। तुमसे मैंने जितना लाभ उठाया है, उसका अनुमान नहीं कर सकता। मैंने अब तक राज्य को अपने जीवन की सब से प्रिय वस्तु समझा है। इसके लिए मैंने सब कुछ किया, जो मुझे न करना चाहिए था। अपनों के रक्त से भी इन हाथों को कलंकित किया, परायों के रक्त से भी। मेरा काम अब समाप्त हो चुका। मैंने अब नींव रख दी, इस पर महल बनाना तुम्हारा काम है। मेरी यही प्रार्थना है कि आज से तुम्हीं इस राज्य की बागडोर सँभालो, मेरे जीवन में भी और मेरे मरने के बाद भी।'

हबीब ने आकाश में उड़ते हुए कहा—इतना बड़ा बोझ! मेरे कन्धे इतने शक्तिशाली नहीं हैं।

तैमूर ने दीन स्वर में कहा—नहीं, मेरे प्रिय मित्र! मेरी यह प्रार्थना तुम्हें माननी ही पड़ेगी।

हबीब की आँखों में हँसी थी, अधरों पर संकोच। उसने धीमे स्वर से कहा—स्वीकार है।

तैमूर ने प्रफुल्लित स्वर में कहा—खुदा तुम्हारी दीर्घायु करे।

'लेकिन अगर आपको मालूम हो जाय कि हबीब एक कच्ची अक़्ल की क्वाँरी बालिका है तो?'

'तो वह मेरी बादशाहत के साथ मेरे दिल की भी रानी हो जायगी।'

'आपको बिलकुल आश्चर्य नहीं हुआ?'

'मैं जानता था।'

'कब से?'

'जब तुमने पहली बार अपनी तिरछी दृष्टि से मुझे देखा।'

'मगर आपने छिपाया खूब!!'

'तुम्हीं ने तो सिखाया। शायद मेरे सिवा यहाँ किसी को यह बात मालूम नहीं।'

'आपने कैसे पहचान लिया?'

तैमूर ने मतवाली आँखों से देखकर कहा—यह न बताऊँगा।

यही हबीब तैमूर की बेगम 'हमीदा' के नाम से मशहूर है।

श्री जैनेंद्रकुमार

जीवन-परिचय

श्री जैनेंद्र दिल्ली के रहने वाले हैं। अभी युवक ही हैं। आठ दस वर्ष से उपन्यासक्षेत्र में उतरे हैं, फिर भी अपनी योग्यता, क्षमता तथा प्रतिभा के बल उत्कृष्ट उपन्यासकारों में गिने जाने लगे हैं। आपने अपने 'परख' नामक उपन्यास पर प्रयाग की हिंदुस्तानी एकेडेमी से ५००) का पारितोषिक भी प्राप्त किया है।

आप हर तरह मौलिक हैं—जैसे भाव में, वैसे ही भाषा में। वर्तमान के अनुकरण में ही आपको कला नहीं दीखती। आप अपनी रचनाओं में उज्ज्वल भविष्य की झाँकी रखते हैं। तपोभूमि नामक उपन्यास में यह बात स्पष्ट दीख पड़ती है।

वातायन में आपकी कहानियों का संग्रह है। इनमें से बहुसंख्यक कहानियाँ मन में घर कर लेने वाली हैं। आपके करुण दृश्य हृदय में चुभ जाते हैं। आपके पात्र आँखों आगे बोलते दिखाई देते हैं। आपकी भाषा कहीं उछलती-कूदती, कहीं मदमाती, कहीं संयत और कहीं प्रगल्भ बनकर आगे बढ़ती है।

चलते चलते आप देहली के मुहाविरों का प्रयोग कर जाते हैं पर इनसे भाषा की रुचिरता में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ता।

अभी आपने थोड़ा ही लिखा है, किन्तु जितना लिखा है उतना ही आपको चार चाँद लगाने के लिए पर्याप्त है। हिंदी के कथा-साहित्य को आपसे बड़ी आशा है।

अपना अपना भाग्य

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की संध्या धीरे धीरे उतर रही थी। रुई के रेशे-से, भाप-से, बादल हमारे सिरों को छू छूकर बेरोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारी से रंगकर कभी वे नीले दीखते, कभी सफ़ेद और फिर ज़रा देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलो वाला मैदान फैला था। सामने अँगरेज़ों का एक प्रमोद-गृह था, जहाँ सुहावना रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ अपने सफ़ेद पाल उड़ाती हुई एक दो अँगरेज़ यात्रियों को लेकर, इधर से उधर खेल रही थीं और कहीं

कुछ अँगरेज़ एक एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई सी शक्ल की डोंगियों को मानों शर्त बाँधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बन्सी पानी में डाले सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उनने उनों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानों खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का ख़याल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरत प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था, न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उमर के सब तरह के लोग उसमें थे। मानों मनुष्यता के नमूनों का बाज़ार सजकर सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अँगरेज़ उसमें थे, और चिथड़ों से सजे, घोड़ों की बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचलकर शून्य बना लिया है, और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अँगरेज़ बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़ें, पिता की उँगली पकड़कर चलते हुए

अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँगरेज़ पिता थे जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी को अपने चारों तरफ़ लपेटे धन-सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अँगरेज़ रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज़ चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में लाज आती थी। कसरत के नाम पर घोड़ों पर भी बैठ सकती थीं, और घोड़े के साथ ही साथ, ज़रा जी होते ही, किसी हिन्दुस्तानी पर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में निःशंक, निरापद, इस प्रवाह में मानों अपने स्थान को जानती हुईं, सड़क पर से चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मियाँ, सड़क के बिलकुल किनारे-किनारे, दामन बचातीं और सम्हालती हुईं, साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमटकर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपाकर, सहमी-सहमी धरती में आँख गाड़, कदम-कदम बढ़ रही थीं।

इसके साथ ही भारतीयता का एक और नमूना था। अपने कालेपन को खुरच-खुरचकर बहा देने की इच्छा करने वाले अँगरेज़ी-दाँ पुरुषोपम भी थे, जो नेटिव को देखकर मुँह फेर लेते थे और अँगरेज़ को देखकर आँखें बिछा देते थे, और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वह अकड़कर चलते थे,—मानों भारत भूमि को

इसी अकड़ के साथ कुचल-कुचलकर चलने का उन्हें अधिकार मिला है।

८

घण्टे पर घण्टे सरक गये। अंधकार गाढ़ा हो गया। बादल सफ़ेद होकर जम गये। मनुष्यों का वह तांता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं के वहीं बैठे थे। सर्दी सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लॉन बर्फ़ की चादर की तरह बिलकुल स्तब्ध और सन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। तल्लीताल की बिजली की रोशनियाँ दीप-मालिका सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिंबित हो रही थी। और दर्पण का कांपता हुआ, लहरें लेता हुआ वह तल उन प्रतिबिंबों को सौ-गुना हज़ार-गुना करके, उनके प्रकाश को मानों एकत्र और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सब को ढँक दिया। रोशनियाँ मानों मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले काले भूत-से पहाड़ भी इस सफ़ेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानों यह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ

इस घनी, गहरी सफ़ेदी में दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागर ने फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर नीचे, चारों तरफ़, वह निर्भेद्य, सफ़ेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिलकुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में, कहीं से ग्यारह बार टन्-टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर क़ब्र में से आवाज़ आ रही हो!

हम अपने अपने होटलों के लिए चल दिये।

२

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवर-कोट तर हो गये थे। वारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर नीचे हवा के कण-कण में वारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिलकुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भीगे कपड़ों

से छुट्टी पा, गरम बिस्तर में छिपकर सो रहना चाहता था। पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी, और कब थमेगी—इसका क्या कुछ ठिकाना है! और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अंदाज़ है! उन्होंने कहा—आओ, ज़रा यहाँ बैठें।

हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक बजे, तालाब के किनारे की उस भीगी, बर्फ़ीली, ठंडी हो रही लोहे की बेंच पर बैठ गये।

५—१०—१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिझलाकर कहा—

'चलिए भी...'

'अरे, ज़रा बैठो भी...'

हाथ पकड़कर ज़रा बैठने के लिए जब इस ज़ोर से बैठा लिया गया, तो और चारा न रहा—लाचार बैठ रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह ज़रा बैठना भी ज़रा न था।

चुप-चाप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

'देखो, वह क्या है?'

मैंने देखा—कुहरे की सफ़ेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली सी मूरत हमारी तरफ़ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—होगा कोई।

तीन गज़ दूरी से दीख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली सी कमीज़ लटकाये है।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है! उसके क़दमों में जैसे कोई न अगला है, न पिछला है, न दायाँ है, न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटैन के छोटे-से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है, पर मैल से काला पड़ गया है, आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचे की धरती, न ऊपर चारों तरफ़ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाक़ी दुनिया। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज़ दी—ए!

उसने जैसे जागकर देखा और पास आ गया।

'तू कहाँ जा रहा है रे?'

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

'दुनिया सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है?'

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

'कहाँ सोयेगा ?'

'यहीं कहीं ।'

'कल कहाँ सोया था ?'

'दूकान पर ।'

'आज वहाँ क्यों नहीं ?'

'नौकरी से हटा दिया ।'

'क्या नौकरी थी ?'

'सब काम । एक रुपया और जूठा खाना ।'

'फिर नौकरी करेगा ?'

'हाँ...'

'बाहर चलेगा ?'

'हाँ...'

'आज क्या खाना खाया ?'

'कुछ नहीं ।'

'अब खाना मिलेगा ?'

'नहीं मिलेगा ।'

'यों ही सो जायगा ?'

'हाँ...'

'कहाँ ?'

'यहीं कहीं ।'

'इन्हीं कपड़ों से ?'

बालक फिर आँखों से बोलकर मूक खड़ा रहा । आँखें मानो बोलती थीं—'यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न !'

'माँ-बाप हैं ?'

'हैं।'

'कहाँ ?'

'१५ कोस दूर गाँव में।'

'तू भाग आया ?'

'हाँ।'

'क्यों ?'

'मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं,—सो भाग आया। वहाँ काम नहीं, रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था और मारता था। माँ भूखी रहती थी और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँव का था,—मुझसे बड़ा। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।'

'कहाँ गया ?'

'मर गया।'

'इस ज़रा-सी उम्र में ही इसकी मौत से पहचान हो गई !—मुझे अचरज हुआ, दर्द हुआ, पूछा—'मर गया ?'

'हाँ साहब ने मारा, मर गया।'

'अच्छा हमारे साथ चल।'

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील दोस्तों के होटल में पहुँचे।

'वकील साहब !'

वकील लोग, होटल के ऊपर के कमरे से उतरकर आये। काश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोज़े-चढ़े पैरों में चप्पल थी। स्वर में हलकी-सी झुँझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

'ओ-हो, फिर आप!—कहिए?'

'आपको नौकर की ज़रूरत थी न!—देखिए, यह लड़का है।'

'कहाँ से लाये?—इसे आप जानते हैं?'

'जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।'

'अजी ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे बच्चे में गुण छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से—'लो जी, यह नौकर लो'।'

'मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।'

'आप भी...जी, बस खूब हैं। ऐरे ग़ैरे को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या लेकर चम्पत हो जाय।'

'आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ!'

'मानें क्या खाक?—आप भी...जी अच्छा मज़ाक करते हैं।—अच्छा, अब हम सोने जाते हैं।'

और वह चार रुपये रोज के किराये वाले कमरे में सजी मसहरी पर झटपट सोने चले गये।

४

वकील साहब के चले जाने पर होटल के बाहर आकर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराश भाव से हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे।

'क्या है ?'—मैंने पूछा।

'इसे खाने के लिए कुछ देना चाहता था' अँगरेज़ी में मित्र ने कहा—'मगर दस दस के नोट हैं।'

'नोट ही शायद मेरे पास हैं;—देखूँ !'

सचमुच मेरी जेब में भी नोट ही थे। हम फिर अँगरेज़ी में बोलने लगे। लड़के के दाँत बीच बीच में कटकटा उठते थे।—कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा—'तब ?'

मैंने कहा—'दस का नोट ही दे दो।' सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—'अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं।'

'तो जाने दो; यह दया ही इस ज़माने में बहुत है।'—मैंने कहा।

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—

'अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह

'होटल डि-पब' जानता है ? वहाँ कल १० बजे मिलेगा ?'

'हाँ...कुछ काम देंगे हुजूर ?'
'हाँ-हाँ ढूँढ दूँगा।'

'तो जाऊँ ?'—लड़के ने निराश आशा से पूछा।

'हाँ'—ठंडी साँस खींचकर फिर मित्र ने पूछा—'कहाँ सोयेगा ?'

'यहीं कहीं; बेंच पर, पेड़ के नीचे—किसी दुकान की भट्ठी में।'

बालक कुछ ठहरा। मैं असमंजस में रहा। तब वह प्रेत-गति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पार कर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा—'भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम कपड़े... !'

'यह संसार है यार !' मैंने स्वार्थ की फ़िलासफ़ी सुनाई 'चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।'

उदास होकर मित्र ने कहा—'स्वार्थ !—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो—या बेहयाई !'

\+ \+ \+ \+

दूसरे दिन नैनीताल-स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलार का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल-डि-पब' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताली सैर खुशी खुशी ख़त्म कर चलने को हुए। उस लड़के की आस लगाते बैठ रहने की ज़रूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे ठिठुरकर मर गया।

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज़ मिली! आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बताने वालों ने बताया कि ग़रीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठियों और पैरों पर बरफ़ की हलकी-सी चादर चिपक गई थी। मानो दुनिया की बेहयाई ढकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफ़ेद और ठण्डे कफ़न का प्रबंध कर दिया था!

सब सुना और सोचा—अपना अपना भाग्य!

निर्मम

अभी सिंहगढ़ ४ कोस है। दस कभी के बज चुके। ठीक दस बजे तीनों घुड़सवारों को शिवाजी की हाज़िरी में सिंहगढ़ पहुँच जाना चाहिए था।

शिवा की बात टलती नहीं, टलती है तो अनर्थ हो जाता है। समय और कार्य का विभाग ही उसका ऐसा नपा-तुला होता है कि ज़रा से काम की ज़रा ढील और ज़रा देर सारी स्कीम को ढा देती है, कार्य-सिद्धि की शृंखला को ही विशृंखल कर देती है। और शिवा वह व्यक्ति है जो सब कुछ सह सकता है, पर असफलता नहीं सह सकता। जिसने फ़ेल होना जाना ही नहीं। जिसके जीवन की डोर विजय-विजय-विजय के मनके पहनकर माला बनकर ही दम लेगी, जिसे इतिहास के अनुशीलन करने वाले साहस-प्रार्थी व्यक्ति फेर-फेरकर धन्य होंगे। जो चाहता है, जिसमें हाथ लगाया है, वही यदि पूरा होने से रह जाय तो शिवा शिवा नहीं।

कौन है, जो उसे पूरा होने में रोक ले। कहीं भी यदि उसे असिद्धि मिले, तो मानों वही उसकी मौत होगी। वह उस धातु का बना है, जिसके अलौकिक वीर बने होते हैं,—जिसका अलक्जेन्द्र बना था, जिसके अशोक, सीज़र, शार्लमान बने थे, और जिसका नैपोलियन बना था। जो धातु मुड़ना नहीं जानती, टूट भले ही जाय।

तीनों घुड़सवार; जो घने जंगल, घने अँधेरे और घने कुहरे को, जमी हुई सन्नाहट और वैसी ही जमी हुई शांति को चीरते हुए तेज़ी से आगे बढ़ रहे हैं; शिवाजी के इस अकंप शिवा-पन को मन-ही-मन, अनुभव-द्वारा, ख़ूब जानते हैं। थक रहे हैं, हाँप रहे हैं, बढ़े चले जा रहे हैं, आपस में बोलने का भी अवकाश नहीं ले रहे हैं,—यह देखने कि 'अब क्या बीतती है' वह, और हम भी, आत्मा की शपथ खाकर कह सकते हैं कि उन्होंने पूर्ण तत्परता, चुस्ती और मुस्तैदी से अपना कर्तव्य निबाहा है।—किंतु १० तो बज चुके हैं।

बीजापुर की ख़बर लाने के लिए उन्हें भेजा गया था। त्र्यम्बक उनका नेता है, घोरपड़े और शिवराव उसके सहायक। त्र्यम्बक शिवा का ही अपना आदमी है। जोखम और विश्वास की जगह उसे ही भेजा जाता है। उसे भेजकर शिवा मानों उस संबंध में बिलकुल निश्चिन्तता प्राप्त कर लेता है।

त्र्यम्बक बोला—'महाराज यदि न मिलें—?'

यह संभावना तीनों ही के मन में थी, किंतु इतनी अनि-

इकर थी कि जैसे वह उसे स्वीकार करने से डरते थे। शिवराव ने कहा—'ऐसा नहीं होगा।'

घोरपड़े ने भी कहा—'महाराज, हमारे संवाद के लिए अवश्य प्रतीक्षा करेंगे।'

किंतु त्र्यम्बक को सन्तोष नहीं मिलता। इन मुसीबत के दिनों में जब चारों ओर फैले प्रत्येक क्षण और प्रत्येक पग में विपत्ति और विजय है, जब समय का ठिकाना नहीं है और ठिकाने का भी ठिकाना नहीं है, तब नियत दस बजे के बारह बज जाना कोई छोटी बात नहीं। वह इसी भारी भूल के बोझ और मनस्ताप के नीचे मानों पिसा जा रहा है। उसने कहा—'घोरपड़े, मालूम नहीं क्या हो गया हो। संदेह नहीं, दस बजे महाराज वहाँ अवश्य होंगे, पर अब—?...बीजापुर में ही हमको समाचार मिला था कि सिंहगढ़ आशंका से खाली नहीं। न जाने किस पल धावा हो जाय ?'

घोरपड़े ने उत्तर में केवल घोड़े की चाल और तेज़ कर दी।

तीनों बढ़े चले। चुप—चारों ओर सन्नाटा भरी चुपचुपाहट थी। मानों नीरव प्रकृति, इन तीनों के भीतर उबलती हुई आशंका को अपने व्यंग्य-मौन से और भी तीखी बना देना चाहती हो।

सिंहगढ़ पास आ गया। अँधेरे में से उसके बुर्ज के कंगारों का आकार धीमा-धीमा दीख पड़ता था। तभी कोई उनकी राह में आया, जिसने पूछा—कौन ?

इस 'कौन' का स्वर और ढंग एकदम सशंक कर देने वाला था। फिर भी त्र्यम्बक ने दहाड़ा--

'ॐ, हर हर !'

उस व्यक्ति ने झट से चिल्ला दिया--'मारो काफ़िरों को' और दल-के-दल दुश्मन उस अँधेरे में से फट पड़े।

युद्ध छिड़ा। मराठे मराठे थे, शिवा जी के साथी थे,--यानी वीर थे, और साथ ही होशियार भी थे। फिर अँधेरे का संयोग मानों भाग्य ने ही सामने ला धरा था। तीखी मार भी वे देते रहे, और पीछे अपना रास्ता भी बनाते रहे।

अपनी हानि और मराठों के पीछे हटने को देख दुश्मनों ने संतोष ही मान रखना ठीक समझा।

वे तीनों निरापद तो हुए किंतु सिंहगढ़ तक पहुँचने का इरादा अब भी उनका पक्का ही रहा। संदेह नहीं, उन्हें जगह-जगह ऐसी ऐसी ही मुठभेड़ करनी होगी,--किंतु क्या इससे वह शिवा की आज्ञा से मुड़ें ?

मतलब कि कभी इधर और कभी उधर, इस तरह चारों ओर से, सिंहगढ़ पहुँचने का यत्न करते रहे। बीसियों हमले उन्हें सहने पड़े, और बहुत आहत हो गये। इधर रात भी बीत चली। किंतु यत्न छोड़ें, तो मराठे कैसे ?

अंत में थकान से चूर हो गये थे, लोहू से लुहान हो गये थे, फिर भी सिंहगढ़ पहुँचने की तदबीर में लगे थे--यद्यपि बड़ी

हताशा के साथ और जीवन-विसर्जन के पूर्ण विश्वास के साथ। तभी एक खबरिहार से पता मिला, शिवा जी सिंहगढ़ में नहीं हैं।

रात होते ही गढ़ पर अचानक धावा हुआ था। दस, साढ़े-दस, ग्यारह बजे तक कई गुनी शत्रुशक्ति के सामने शिवा गढ़ को सँभाले रहे और ठहरे रहे थे। बहुतेरा कहा गया कि वह यहाँ से चलें। किंतु ग्यारह बजे से पहले उन्होंने वहाँ से टलना कभी स्वीकार न किया। भेदिये चारों ओर तैनात रहते थे। जब ग्यारह बजे का यह समाचार लाकर उन्होंने शिवा को दे दिया कि एक मील तक त्र्यम्बक नहीं है, तब उन्होंने गढ़ छोड़ने में फिर छन-भर देर न की।

त्र्यम्बक और उसके साथी इस सूचना पर, अपने को प्रत्येक अनिष्ट और हर तरह के दण्ड के लिए तैयार करके, लौट चले।

२

जंगल में एक ऊँची-सी टेकड़ी पर शिविर पड़ा है। किंतु शिवा उससे अलग, बहुत दूर, आत्म-त्रस्त, आत्म-ग्रस्त और आत्म-व्यस्त भाव से कुछ सोचता हुआ टहल-सा रहा है। शिविर के काम से निबट चुका है, सब ताक़ीदें दे चुका है,—इस तरह अवकाश निकालकर अब अपने से निबटने का काम वह, यहाँ सिर झुकाकर टहलना-टहलना, कर रहा है। सिद्धियों, सफलताओं और विजयों से ठसाठस भरे हुए अपने व्यस्त जीवन में से, वह इसी तरह कभी-कभी कुछ घड़ियाँ चुराकर आत्मनिमग्नता पाया करता है।

इन बहुमूल्य निठल्ली घड़ियों में, जो बड़ी कठिनाई से मिल पाती हैं और बहुत थोड़ी देर ठहर पाती हैं, मानों उसके जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ, कसक उठने वाली स्मृतियाँ और प्रज्ज्वलित कर देने वाली चिन्ताएँ,—मानों जीवन की समग्र चेतनता,—अपने डोरे समेटकर आ इकट्ठी होती हैं। तब वे डोरे फैलते हैं, उलझते हैं और सुलझते हैं किंतु उतने सुलझते नहीं, जितने उलझ जाते हैं। इन उलझनों में फँसकर शिवा बड़ी व्यथा पाता है। सुलझा तो सकता नहीं, क्योंकि सुलझाने का अवकाश उसके पास बहुत थोड़ा है, इसलिए उलझते रहने में ही वह थोड़ा आनन्द ले लेता है। यह व्यथा, जो मज़े से भरी है और यह मज़ा, जो टीस-सा चुभता है; यहीं, इसी में पड़कर, शिवा को ज्ञात होता है जैसे जीवन के रस का थोड़ा स्वाद मिल रहा हो। नहीं तो उस खोखले, कृत्रिम, कर्तव्य-बद्ध, राजापन, प्रसिद्धि और प्रभुत्व के जगमग ज़र्क़-बर्क़ आवरण पहने रूखे जीवन से उसे रह-रहकर उकताहट छूटती है।

उसे बहुत कुछ स्मरण हो आती है वह माँ की गोद, जो अब नहीं रह गई है। उसके स्थान पर सिंहासन आ गया है। निर्जीव पत्थर का यह सिंहासन सजीव प्यार के माँ के उस घोंसले की, मानों अपने मद में, खिल्ली उड़ाता है—कम्बख़्त सिंहासन से शिवा के प्राण मानों एकबारगी ही चिढ़ उठते हैं। ये सारी प्रसिद्धि, वैभव और मनुष्यता का व्यंग्य करते दीखते हैं।

उसे स्मरण हो आता है वह रक्त, जो उसने बहाया है। वे जानें, जो उसने ली हैं। उससे भी अधिक वे जानें, जो उसके लिए गई हैं। जिन्हें उसने मारा है, और जो उसके लिए मर गये हैं,

उनके बिलखते हुए कुटुम्बी और उन कुटुम्बियों के अविरल ढुरकते हुए आँसू,—इन सब की कल्पना, स्मृति और चित्र भीतर से उमड़ते हुए और उसके जी को मरोड़ते हुए उठते हैं। उसे ज्ञान होता है, मानों उन सब की हत्याओं और उन दुखियों के दुखों को कुचले हुए खड़ा है उसका राजा-पन !

और स्मरण हो आता है वह हृदय का वेग, जो बच्चों को देखकर उमड़ा पड़ता है। वह बाला, जो उसे बचाते-बचाते मर गई, इसलिए कि वह उसे अपना हृदय और अपना सर्वस्व देना चाहती थी। उसने उस हृदयोत्सर्ग के अर्घ्य के अर्पण को स्वीकार किया और उसे कुचल दिया। और वह, जब औरंगज़ेब के यहाँ गया था, जो अचानक दीख गई थी और मिल गई थी,—जिसका प्रणय, वंश और धर्म, सभ्यता और समाज के सब बन्धनों को लाँघकर उस तक पहुँचता है और इतना कि जिसके रस में वह डूब जाय। वह निसर्ग-शुद्ध प्रणय-रस की धारा उसे याद आती है, जिसे वह छू नहीं सकता !

और सामने दीखते हैं पेड़, जो लताओं को चिपटाये झूम रहे हैं, हँस रहे हैं—'तुम बड़प्पन की भूख में रहो, इधर हम तुम पर हँसते हैं।' और फिर मानों अपना मुकुट झुकाकर, फुसलाकर, चुप कैसे आवाहन दे जाते हैं—'व्यर्थता में न पड़ो, आओ, हमारे साथ जीवन में निर्द्वन्द्व खेलो।' हरी घास, छोटे पौधे, उभरा हुआ पहाड़, भागते खेलते बादल, और उनके पीछे धूप की मुसकान से मुसकाता नीलाकाश, फुदकती चिड़ियाँ और चहकते पक्षी—सब,

मानों अपने जीवन की चुहल दिखाते हुए व्यंग्य कर रहे हैं—'यह है जीवन !'

शिवा इस रस को देख रहा है। देख-देखकर, क्योंकि इसे वह चख नहीं सकता, बड़ा झुँझला और कुढ़ रहा है। कैसा बेलाग बेदाम बिखरा पड़ा है यह रस !

उसकी फ़तहों की सूची उसे निकम्मी जान पड़ती है। सफलताओं की लम्बी तालिका उसके मन को बोध नहीं दे पाती।

जब उसका मन हार जाता है, स्मृतियाँ दबा लेती हैं और ऐसी चिन्ताएँ अभिभूत कर लेती हैं, तब उसके एकमात्र त्राण समर्थ गुरु रामदास याद पड़ते हैं। वह उनकी शरण गहेगा। अब के इस यश, वैभव, राजत्व, लड़ाई और हिंसा के मार्ग से मुक्ति पाने की प्रार्थना करेगा। साधारण बन जाने और प्रेम करने की छुट्टी अब के वह भी गुरु से माँग लेगा। व्यस्तता से वह तंग आ गया है, कहेगा—'गुरु, बहुत हो गया, अब मुझे छुट्टी दो। अब मैं स्नेह में नहाऊँगा और जीवन में खेलूँगा।'

मन के इसी ज्वार को ज़रा शांत करने के लिए वह टहलता-टहलता एक शिला पर बैठ गया। संध्या चुपचाप सरकी आ रही थी। मानों अपनी अँधियारी साड़ी में से थोड़ी स्निग्धता और शान्ति भी बिखराती आ रही हो।

शिवा की गोद में एक टिड्डी आ पड़ी। शिवा उसे देखता रह गया। मानों वह अपनी धुन में है, शिवा की उसे ख़ाक पर्वाह नहीं। मानों किसी नये खेल की टोह में जा रही है।

शिवा ने पकड़ने को हाथ बढ़ाया कि वह फुदककर भाग गई।

सामने से एक चिड़िया उड़ी,—टि टी हु ई टी। और जाकर बैठ गई दूसरी चिड़िया के पास। और वे दोनों चोंचें मिलाकर अभिन्न प्रेम-सम्भाषण करने लगीं।

ऊपर एक बादल का टुकड़ा भागा जा रहा था—एक और को पकड़ने। देखते-देखते वे दोनों मिले और आपस में गुँथ गये।

शिवा ने कहा—'अच्छा भाई, मिलो, मिलो। मैं भी अब तुम्हारी समाज में आता हूँ।'

उस समाज में उसकी प्रवेश-प्रार्थना पर कैसा स्वागत मिल रहा है, यह वह समझ पाये ही कि उसने सुना—'महाराज!'

मुड़कर देखा—एक युवक है। वह युवक उसके चरणों पर आ पड़ा।

वह युवक है, नया है, फिर भी नया नहीं है। कुछ है उसमें, जो जाना-सा मालूम पड़ता है।

फिर सुन पड़ा—'महाराज!'

इस वातावरण में और इस नये प्रकार के उठे हुए विचार-क्षेत्र में शिवा अपना सरदारपन भूल बैठा था। अभी उसे अपने में उस 'बू' को लाने की जल्दी भी न थी। कहा—

'कहो भाई।'

युवक ने कहा। क्या कहा, सो शिवा न समझ सका। जो कहा गया था, उसका आशय नहीं। उसका स्वर उसने सुना—वही उसने समझा और तब उसने गौर से युवक को देखा।

युवक के सारे गात में एक सिहरन लहराई, आँखें झपीं-सी, और मामूली-सा सिट्टपिटापन दौड़ गया। शिवा से यह छिपा न रहा, और उसके भीतर एक गुदगुदी सी मच उठी।

'तुम्हें भाई नहीं कहना चाहता, बहन भी नहीं कहना चाहता। क्या कहूँ ?'—शिवा ने हँसकर, कँपकर पूछा।

युवक, जो युवती था, शर्मा गया।

जंगल सूना था, पर शिवा मज़बूत था। फिर भी उसकी मज़बूती, पिछले विचार-प्रवाह में, मानों पिघल उठी थी। यह हो नहीं सकता था कि वह मज़बूती रिसकर बह जाती, तो भी शिवा ने उस पर विश्वास रखना उचित न समझा। पूछा—'हाँ, क्या चाहती थीं ?'

—'नौकरी।'

'छिः। नौकरी किया करते हैं कहीं !'

'सेना में नौकरी चाहती हूँ।'

'मारने का काम करोगी ? वह काम क्या तुम्हारे बस का है ? तुम्हें तो जीने और जिलाने का काम करना चाहिए। क्यों !'

'हाँ।'

'सेना में क्यों जाना चाहती हो ?'

'मारने नहीं।'

'फिर ?'

'बचाते-बचाते मरना चाहती हूँ। आपको मारने वाले बहुत हैं।'

इतने साहस की बात कहने के पश्चात् मानों युवती का साहस चुक गया। शिवा का जी पसीज गया। इस उत्कण्ठित उत्सर्ग की आकांक्षा को देख वह धन्य हुआ। किंतु वह क्या इसके तनिक भी योग्य है ? उसे बस यही अधिकार है कि वह इस उत्सर्ग को ले, और इसी पर अपने शरीर की रक्षा प्राप्त करे। उसे अपनी स्थिति पर आन्तरिक खेद हुआ।

उसने कहा—'बाई, यह क्या कहती हो ?—क्या जाने यह नौकरी ही न रहे, सेना ही न रहे। और फिर मेरा शत्रु बनने की भी किसी को आवश्यकता न रहे। जाओ बाई, ऐसा ध्यान न करो। मेरी शपथ, जो ऐसी बात तुमने मन में रक्खी। शिवा का जीना अभी बहुत भारी है। फिर तो उस जीवन को उठाना ही कठिन हो जायगा।'

युवती शिवा के पैरों में पड़ गई। शिवा ने उसे उठाया, कुछ कदम उसके हाथ पकड़े, उसके साथ गया, और विदा किया; कहा—'मेरा मार्ग न बाँध दिया गया होता, तो क्या मैं जान-बूझकर धन्य होने से बचता ? बाई, जाओ शिवा बड़ा अपात्र व्यक्ति है।'

* * *

शिवाजी उसी शिलाखण्ड पर बैठे थे कि त्र्यम्बक अपने साथियों सहित उपस्थित हुआ।

'महाराज!'

'अरे, त्र्यम्बक!'

'क्षमा करें, महाराज!'

त्र्यम्बक ने अपनी पूरी कहानी कही। शत्रुओं के साथ मुठभेड़ की और अपने घावों की बात बहुत संक्षेप में बतलाई। फिर कहा—

'क्षमा करें, महाराज!'

शिवा ने कहा—'त्र्यम्बक, मैं वही मार्ग पकड़ना चाहता हूँ, जहाँ क्षमा ही क्षमा है; जहाँ क्षमा माँगने की आवश्यकता ही मिट जाती है। वह छोड़ना चाहता हूँ, जहाँ दण्ड ही दण्ड है। मैं थक गया हूँ। यह नित्य की नई लड़ाई, खोने को रोज नई जानें, और लड़ने को नई जानें, नये अपराध और नये दण्ड—मैं इन सब से घबरा गया हूँ। मैं चाहता हूँ, ये कुछ भी न रहें। हम-तुम भाई बनकर रहें, जैसे कि हम भाई-भाई हैं।'

त्र्यम्बक घबराया और बोला—'महाराज!'

शिवा ने कहा—'त्र्यम्बक, शिविर में जाओ। बहुत कुछ करना है। पर अच्छा है, यह सब करना-कराना शेष हो जाय। औरंगज़ेब की सेना इधर बढ़ी आ रही है। उधर कुछ अपने लोग भी चारों ओर से हमें घेरने के प्रयत्न में हैं। इन सब को छकाने

और इनसे बचने को क्या करना होगा, सो सब मैं कर आया हूँ। दक्षिण की ओर एक टुकड़ी भी जायगी। बीजापुर की स्थिति सुनकर कुछ करने की ज़रूरत होगी। वैसे भी, अपनी हालत और वहाँ की हालत को देखते हुए, तुरन्त कुछ कर बैठना ठीक नहीं। जहाँ से सहायता का वचन है, उसकी भी उचित प्रतीक्षा करनी ही चाहिए। इस तरह परसों तक हम यहीं हैं। तब तक कुछ भी आँच यहाँ तक पहुँच सकेगी—यह असम्भव है। इसलिए मैं आज श्री समर्थगुरु के पास जाता हूँ। परसों प्रातः ही यहाँ पहुँच जाऊँगा। कोई मेरे साथ नहीं जायगा। तुम लोगों को तैयार रहना चाहिए। यदि श्री गुरु ने मेरी प्रार्थना स्वीकार न की, तो परसों १० बजते-बजते सब को पाँच टुकड़ियों में बँटकर यहाँ से कूच कर देना होगा।'

फिर हृदयाकांक्षा से भीने स्वर में कहा—'त्र्यम्बक, मैं गुरु के पास छुट्टी माँगने जा रहा हूँ, जिससे इस झंझट से हम सब मुक्त हों और प्रकृति के सच्चे प्राणी होकर रहें। यदि इच्छा स्वीकृत हुई, तो तुम्हें सूचना दूँगा,—कोष में जो कुछ है वह सब लोगों में बाँट देना और उन्हें विदा दे देना। मैं कुछ दिन गुरु के पास ही, और फिर किसी खंड़ में रहूँगा।...'

त्र्यम्बक ने कहा—'महाराज!'

शिवा ने कहा—'जाओ, जैसा कहा वैसा करो।'

त्र्यम्बक चला गया।

३

श्री समर्थ गुरु के पास चरणों में।

'क्यों, शिवा, क्या है?'

'गुरुवर, बड़े क्लेश में हूँ।'

'क्लेश? कैसा क्लेश?—क्या फिर उकताहट उठती है? मैंने तुम्हें बताया, उकताहट का यह स्थान नहीं। कर्म अनिवार्य है और मनुष्य नितांत स्वतंत्र नहीं है। कर्म की परिधि में घिरा है। बस, परिधि के भीतर स्वतन्त्र है। परिधि से बाहर भागकर वह नहीं जा सकेगा। इसे वह अपना दुर्भाग्य समझे या सौभाग्य,—जगत् का तन्त्र ही ऐसा है।'

'भगवन्, कर्म की अनिवार्यता तो मैं स्वीकार करता हूँ। किंतु हँसना-खेलना भी तो कर्म है। प्यार करना भी तो कर्म है। जीवन के विनोद में बह चलना भी तो कर्म ही है। पानी बहता है और खेलता है, चिड़ियाँ उड़ती हैं और चहकती हैं, पेड़ फलते हैं, फूलते हैं और झूमते हैं, सम्पूर्ण जगत् ही मानों आनन्द के सक्रिय समारोह में तन्मय योग देता रहता है। फिर मेरे ही जिम्मे यह लड़ना-मारना क्यों है? बहुत-सी जीवन की लहरों को बलात् रोककर और अस्वीकार करके एक बनावटी कर्तव्यशासन में बँधे रहना, जगत् के और प्राणियों को छोड़कर, मेरे ही लिए क्यों आवश्यक है? गुरुवर, मुझे इस निश्चल प्रकृति को देखकर ईर्ष्या होती है, और अपने बंधनों पर बड़ी खीझ होती है।'

स्वामी रामदास ने स्पष्ट देखा, शिवब्रा की वितृष्णा सच्ची है, फिर भी मोह-जन्य है। जो सामने सरस दीख पड़ता है, उसी से ललचाकर, अपने में यह विरागाभास उसने उत्पन्न किया है। वे बोले—'शिवब्रा, भूलते हो। जिसको जिस तरह देखते हो, वह वैसा ही नहीं है। जो हँसता दीखता है, क्या मालूम वह उसका रोना हो। इसलिए दूसरों की हँसी पर मन लुभाओ। स्वयं हँसना सीखो, और वह तभी सीख पाओगे, जब जो कुछ होगा उसी पर हँसोगे। दुख पर वैसे ही हँस दोगे, जैसे सुख पर। यह उकना उठना छोड़ दोगे। तुम, सम्भव है, मुझे मुक्त समझो। हाँ, मैं अपने को मुक्त समझता हूँ। पर तुम भी यदि मेरी ही तरह हो जाओ, कौपीन धार लो और संन्यासी बन जाओ, तो आत्मा का असन्तोष ही पाओगे। सब के मार्ग भिन्न भिन्न हैं, यद्यपि सब का अन्त एक है। वह मार्ग किसी के लिए भी मखमल-बिछा नहीं है, वह तो दुर्धर्ष ही है। जो उस मार्ग पर चलना ही नहीं आरंभ करते, उनकी बात छोड़ दो,—वे तो सचमुच उच्छृंखल रहकर जो जी चाहा उसमें भूल रह सकते हैं। पर जो मार्ग पर चलने के अधिकारी हो गये, फिर उन्हें जी चाहा करने का अधिकार नहीं रहता है। उनका तो मार्ग खड्ग की धार की तरह एक-रेखा-रूप, निश्चित और संकरा बन जाता है। तुम्हारा मार्ग राजा का है, मेरा मार्ग साधु का है। हम दोनों की पूर्णता और आत्मोपलब्धि अपने अपने मार्गों में है। राजा संसार का साधारण गृहस्थी नहीं है, वह बड़े दायित्वों से बँधा है। इसलिए उसके कर्तव्य अकर्तव्य की परिभाषा गृहस्थ के पैमाने से नापकर नहीं बनेगी। उसे अधिकार नहीं, कि वह सहज-

प्राप्य अपनी आत्म-तुष्टि ढूँढे, अपने विलास का आयोजन करे। क्योंकि उसे बहुतों के सुखों और जीवनों की रक्षा का भार सौंपा जा चुका है। क्या अपने सुखों को दूसरों की सुविधा के लिए उत्सर्ग कर देने का यह अधिकार प्रत्येक को मिलता है? इसके अधिकारी विरले होते हैं। तो क्या तुम इस अधिकार से विमुख होगे? तुम्हें कितना बड़ा उत्सर्ग करना पड़ रहा है, मैं जानता हूँ। जो चीज़ तुम्हें दुख पहुँचाती है, हिंसा, वही करने पर तुम बाध्य हो। यश, प्रतिष्ठा, जिससे तुम भागना चाहते हो, वे ही तुम्हें चिपटानी पड़ती हैं। यह महान् उत्सर्ग है, मैं मानता हूँ। किंतु मैं समझता हूँ, शिवा, यह विराट् उत्सर्ग का अवसर—जो तुम जैसे विरलों को ही मिलता है,—तुम खोओगे नहीं।'

शिवा की आत्मा को इन शब्दों से बोध तो हुआ, पर हृदय की व्यथा पूरी न मिट पाई। वह बोला—

—'महाराज, मैं नहीं जानता, पर जी बेचैन रहता है। करता हूँ, पर अकुलाये मन से.........।' 'ठहरो' गुरु ने कहा—'समझने में तुम्हें आयास और समय की आवश्यकता होगी। इस बीच मेरा आदेश समझकर ही मानो। आदेश में शंका न करो—पाप लगता है। जाओ—औरंगज़ेब की सेना बढ़ रही है। ब्राह्मणों का अपमान, धर्म पर अत्याचार और गौओं की हत्या हो रही है। भारत की भारतीयता खोई जा रही है। इसकी रक्षा करो।'

शिवा चरणों में पड़ा।—'भगवन्!'

—'जाओ, शिवा, कर्म करो। शंका न करो, आकांक्षा न करो। निःशंकित आस्था रक्खो, निष्काम कर्म करो।'

शिवा पद-धूलि लेकर चला गया।

४

टुकड़ियाँ बँट गई हैं। शिविर उखड़ने को है। सब अपने अपने काम पर कूच करने की तैयारी कर रहे हैं। वही 'परसों' आ गया है और वही शिवा जी—लड़ाई का उत्कट, उद्भट, चपला की तरह चपल शिवाजी,—आ गया है।

तभी त्र्यम्बक का मुक़द्दमा हाथ में लिया। त्र्यम्बक पेश हुआ।

शिवा अब मानों कर्तव्य ही कर्तव्य है। हृदय जो भावना का स्थान है, मानों शिवा ने उसे बिलकुल सुला डाला है। हाँ मस्तिष्क, जो विचार और विवेचना का स्थान है, पूर्ण सजग है। बोला—

'त्र्यम्बक, तुम्हारा अपराध अक्षम्य है। मेरे निकट क्षमा वैसे भी अक्षम्य है। तुम्हें सब से बड़ा दण्ड जो मैं दे सकता हूँ, देता हूँ। तुम घर जाओ, रहो, तुमसे और सेवा मैं नहीं ले सकूँगा।'

सचमुच दण्ड त्र्यम्बक के लिए इससे बड़ा न हो सकता था। वह सब कुछ कर सकेगा, पर शिवा को छोड़ना!—यह कैसा होगा? मौत मंज़ूर होती, पर यह तो उस स्वामिभक्त के लिए बिलकुल असह्य ही है।

उसने बहुत विनती की। पर शिवा की बात शिवा की बात है, झुकेगी नहीं।

* * * *

वह,—वही युवक भी हाज़िर हुआ। शिवा की आंखों में ममता की झाईं भी नहीं है। केवल एक वस्तु है,—प्रभुत्व।

'नौकरी चाहते हो?'

'जी!'

'अच्छा।'

फ़ौजदार को इस नये सिपाही को बाक़ायदा शपथ-पूर्वक भर्ती कर लेने का हुक्म हुआ।

* * * *

लड़ाई हुई। धावा अचानक का था। शिवा का बचना असम्भव था,—पर भाग्य कहिए, बच गया। भाग्य को श्रेय देते हुए शर्म आती है। किंतु एक छोटे से अनजाने सिपाही को श्रेय देने का क़ायदा इतिहास का नहीं है। कोई उत्सुक पूछे ही, तो इतना बता सकते हैं कि एक तलवार का भरपूर हाथ जो ठीक शिवा जी की गर्दन पर पड़ता, और पड़ता तो कभी अकारथ न जाता, एक नये युवक सिपाही की पीठ पर पड़ा! वह सिपाही फिर ज्यादे देर तक जीता न रहा और उसके साथी भी भली प्रकार उसके गाँव-पते का पूरा पता न चला सके। क्योंकि शिवा ने तुरंत

लाश अपने खास शिविर में मँगा ली थी, और फिर कोई बाहरी आँख उस पर न पड़ सकी थी।

शिवा ने उस लाश को क्या किया? उसे आँसुओं से तो भिगोया ही,—फिर क्या किया, नहीं कहा जा सकता।

श्री चतुरसेन शास्त्री

जीवन-परिचय

शास्त्री जी का जन्म संवत् १९४८ में हुआ। आप दिल्ली के प्रसिद्ध वैद्य हैं और संजीवन औषधालय के स्वामी हैं।

'हृदय की प्यास' 'हृदय की परख' और 'अमर अभिलाषा' नाम के आपने तीन उपन्यास लिखे हैं और आपकी कहानियाँ 'अक्षत' और 'रजकण' के रूप में प्रकाशित हुई हैं।

आपकी शैली अनूठी है। लिखते समय आप पाठकों के साथ आत्मीयता का ऐसा व्यापक संबंध जोड़ते हैं कि पाठक इनकी रचनाओं में स्वयं इन्हें अपनी आँखों के सामने खड़ा देखते हैं। यही कारण है कि आपकी रचनाएँ इतनी व्यावहारिक, विशद, सरल तथा मर्मस्पर्शी संपन्न हुई हैं।

भाषा आपकी श्री प्रेमचंद की सी चलती है। उसमें उर्दू की पुट मिली रहती है। देहली के स्थानीय मुहावरों की खपत भी अच्छी है। वाक्य-विधान सुसंघटित तथा देशकालानुसारी है।

आपकी रचनाओं का विषय अधिकतर शृंगार है! इसके मनोहर चित्रण में आपकी कला ने कमाल किया है।

भिक्षुराज

मसीह के जन्म से २५० वर्ष प्रथम। ग्रीष्म की ऋतु थी और संध्या का समय, जब कि एक तरणी कांबोज के समुद्र-तट से दक्षिण दिशा की ओर धीरे-धीरे अनंत सागर के गर्भ में प्रविष्ट हो रही थी।

इस क्षुद्र तरणी के द्वारा अनंत समुद्र की यात्रा करना भयंकर दुःसाहस था। वह तरणी हल्के, किंतु दृढ़ काष्ठफलकों को चर्म-रज्जु से बाँधकर और बीच में बाँस का बंध देकर बनाई गई थी, और ऊपर चर्म मढ़ दिया गया था। वह बहुत छोटी और हल्की थी, पानी पर अधर तैर रही थी, और पक्षी की तरह समुद्र की तरंगों पर तीव्र गति से उड़ी चली जा रही थी। तरणी में एक ओर कुछ खाद्य पदार्थ मृद्भांडों में धरे थे, जिनका मुख वस्त्र से बँधा हुआ था। निकट ही बड़े-बड़े पिटारों में भूर्ज-पत्र पर लिखित ग्रंथ भरे हुए थे।

तरणी के बीचोंबीच बारह मनुष्य बैठे थे। प्रत्येक के हाथ में एक-एक पतवार थी, और वह उसे प्रबल वायु के प्रवाह के विपरीत दृढ़ता से पकड़े हुए था। उनके वस्त्र पीतवर्ण थे, और सिर मुंडित—प्रत्येक के आगे एक भिक्षा-पात्र धरा था। उनके पैरों में काष्ठ की पादुकाएँ थीं।

तेरहवाँ एक और व्यक्ति था। उसका परिच्छद भी साथियों जैसा ही था। किंतु उसकी मुख-मुद्रा, अंतस्तेज और उज्ज्वल दृष्टि उसमें उसके साथियों से विशेषता उत्पन्न कर रही थी। उसकी दृष्टि में एक अद्भुत कोमलता थी, जो प्रायः पुरुषों में, विशेषकर युवकों में नहीं पाई जाती। उसके मुख की गठन साफ़ और सुंदर थी। उसके मुख पर दया, उदारता और विचारशीलता टपक रही थी।

वह सब से ज़रा हटकर, पीछे की तरफ़, बैठा हुआ और उसका एक हाथ नाव की एक रस्सी पर था। उसकी दृष्टि सागर की चमकीली, तरंगित जल-राशि पर न थी। वह दृष्टि से परे किसी विशेष गंभीर और विवेचनीय दृश्य को देख रहा था। उसका मुख समुद्र-तीर की उन हरी-भरी पर्वत-श्रेणियों की ओर था, और उनके बीच में छिपते सूर्य को वह मानो स्थिर होकर देख रहा था। उसकी ठुड्डी उसके कंधे पर धरी थी। कभी कभी उसके हृदय से लंबी श्वास निकलती और उसके होठ फड़क जाते थे।

इसके निकट ही एक और मूर्ति चुपचाप पाषाण-प्रतिमा की भाँति बैठी थी, जिस पर एकाएक दृष्टि भी नहीं पड़ती थी। उसके वस्त्र भी पूर्व-वर्णित पुरुषों के समान थे। परंतु उसका रंग

नवीन केले के पत्ते के समान था। उसके सिर पर एक पीत वस्त्र बँधा था, पर उसके बीच से उसके घुँघराले और चमकीले काले बाल चमक रहे थे। उसके नेत्र शुक्र नक्षत्र की भाँति स्वच्छ और चंचल थे। उसका अरुण अधर और अनिंद्य सुंदर मुख-मंडल सुधावर्षी चंद्र की स्पर्धा कर रहा था। वास्तव में वह पुरुष नहीं, बालिका थी। वह पीछे की ओर दृष्टि किये उन क्षण क्षण में दूर होती उपत्यका और पर्वत-श्रेणियों को करुण और डबडबाई आँखों से देख रही थी, मानों वह उन चिर-परिचित स्थलों को सदैव के लिए त्याग रही हो; मानों उन पर्वतों के निकट उसका घर था, जहाँ वह बड़ी हुई थी, खेली थी। वह वहाँ से कभी पृथक् न हुई थी, और आज जा रही थी उस सुदूर अज्ञात देश को, जहाँ से लौटने की उसे आशा ही न थी।

यह युवक और युवती ससागरा पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट् मगधपति प्रियदर्शी अशोक के पुत्र महाभट्टारकपादीय महाकुमार महेंद्र और महाराज-कुमारी संघमित्रा थे, और उनके साथी बौद्ध-भिक्षु। ये दोनों धर्मात्मा, त्यागी, राजसंतति-आचार्य उपगुप्त की इच्छा से सुदूर सागरवर्ती सिंहलद्वीप में भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर बौद्ध-धर्म का प्रचार करने जा रहे थे। महाराज-कुमारी के दक्षिण हाथ में बोधि-वृक्ष की टहनी थी।

आकाश का प्रकाश और रंग धुल गया, और धीरे-धीरे अंधकार ने चारों ओर से पृथ्वी को घेर लिया। बारहों मनुष्य नीरव अपना काम मुस्तैदी से कर रहे थे। कचित् ही कोई शब्द

उनके मुख से निकलता हो; कदाचित् वे भी अपने स्वामी की भाँति भविष्य की चिंता में मग्न थे। इसके सिवा उस अचल एकनिष्ठ व्यक्ति के साथ बातचीत करना सरल न था।

अंततः पीछे का भू-भाग शीघ्र ही गंभीर अंधकार में छिप गया। कुमारी संघमित्रा ने एक लंबी साँस खींचकर उधर से आँखें फेर लीं। एक बार बहन-भाई दोनों की दृष्टि मिली। इसके बाद महाकुमार ने उसकी ओर से दृष्टि फेर ली।

एक व्यक्ति ने विनम्र स्वर में कहा—'स्वामिन्! क्या आप बहुत ही शोकातुर हैं?' दूसरा व्यक्ति बीच ही में बोल उठा—

'क्यों नहीं, हम अपने पीछे जिन वनस्थली और दृश्यों को छोड़ आये हैं, अब उन्हें फिर देखने की इस जीवन में क्या आशा है? और अब, जिन मनुष्यों से मिलने को हम जा रहे हैं, उनका हमें कुछ भी परिचय नहीं है। उनमें कौन हमारा सगा है? केवल अंतरात्मा की एक बलवती आवाज़ से प्रेरित होकर हम वहाँ जा रहे हैं। आचार्य की आज्ञा के विरुद्ध हममें कौन निषेध कर सकता था!'

एक और व्यक्ति बोल उठा, उसकी आँखें चमकीली और चेहरा भरा हुआ एवं सुंदर था। उसने कहा—'जब तुम इस प्रकार खिन्न हो, तब वहाँ चल ही क्यों रहे हो? अब भी लौटने का समय है।' वह मुस्कराया। महाकुमार महेंद्र ने मुस्कराकर मधुर स्वर से कहा—'भाइयो! जब मैंने इस यात्रा का संकल्प किया था, तब तुमने क्यों मेरे साथ चलने और भले-बुरे में साथ देने का इतना

हठ किया था। ऐसी क्या आपत्ति थी ?' एक ने धीमे स्वर में उत्तर दिया—'स्वामिन् ! हम आपको प्यार करते थे।'

दूसरे ने मन्द हास्य से कहा—'वाह ! यह खूब उत्तर दिया ! मैं स्वामी को प्यार करता हूँ, इसलिए उसकी जो आज्ञा होगी, वह मानूँगा—जहाँ वह लिवा जायगा, वहाँ जाऊँगा।' फिर उसने गंभीरता-पूर्वक कहा—'और मैं समझता हूँ कि मैं उन अपरिचित मनुष्यों को भी प्यार करता हूँ, जो इस असीम समुद्र के उस पार रहते हैं।'

यह कहकर उसने उस अंधकाराच्छन्न दक्षिण दिशा की ओर उँगली उठाई, जहाँ शून्य भय के सिवा कुछ दीखता न था। उसने फिर कहा—'जो आत्मा के गहन विषयों से अनभिज्ञ हैं, जो तथागत के सिद्धांतों को नहीं जान पाये हैं, जो दुःख में मग्न अबोध संसारी हैं, उन्हें मैं प्यार करता हूँ। तथागत की आज्ञा है कि उन पर अगाध करुणा करनी चाहिए। मेरा हृदय उनके प्रेम से ओत-प्रोत है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमें बुला रहे हैं, चिरकाल से बुला रहे हैं। आह ! उन्हें हमारी अत्यंत आवश्यकता है। वे भवसागर में डूब रहे हैं, क्योंकि तथागत की ज्ञान-गरिमा से वे अपरिचित हैं। हम उन्हें अक्षय प्रकाश दिखाने जा रहे हैं। निस्संदेह हमें कठिनाइयों और आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। हमारे पास रक्षा की कोई सामग्री नहीं और शस्त्र भी नहीं। फिर भी अहिंसा का महा अस्त्र तो हमारे हाथ है, जो अंत में सब से अधिक शक्तिशाली है।'

यह धीमी और गंभीर आवाज़ उस अंधकार को भेदन करके सब साथियों के कानों में पड़ी; मानों सुंदर पर्वत-श्रेणियों से टकराकर हठात् उनके कानों में घुस गई हो। बारहों मनुष्यों में सन्नाटा छा गया, और सब ने सिर झुका लिये। इन शब्दों की चमत्कारिणी, मोहनी शक्ति से सभी मोहित हो गये।

दो घंटे व्यतीत हो गये। तरणी जल-तरंगों से आंदोलित होती हुई उड़ी चली जा रही थी। राजनंदिनी ने मौन भंग किया। कहा—'भाई, क्या मैं अकेली उस द्वीप की समस्त स्त्रियों को श्रेष्ठ धर्म सिखा सकूँगी?'

महाराजकुमार ने मृदुल स्वर में कहा—'आर्या संघमित्रा! यहाँ तुम्हारा भाई कौन है? क्या तथागत ने नहीं कहा है कि सभी सद्धर्मी भिक्षु-मात्र हैं।'

'फिर भी महाभट्टारकपादीय महाराजकुमार......।'

'भिक्षु न कहीं का महाराज है, और न महाराजकुमार।'

'अच्छा भिक्षु-श्रेष्ठ! क्या मैं वहाँ की स्त्रियों के उद्धार में अकेली समर्थ होऊँगी?'

'क्या तथागत अकेले न थे?' उन्होंने जंबू-महाद्वीप में कैसी क्रांति उत्पन्न कर दी है।

'किंतु भिक्षुवर! मैं अबला स्त्री......'

'तथागत की ओत-प्रोत आत्मा का क्या तुम्हारे हृदय में बल नहीं?'

संघमित्रा ध्यान-मग्न हो गई।

एक मनुष्य बीच ही में बोल उठा—'क्या हम लोग तीर के निकट आ गये हैं ? समुद्र की लहरें चट्टानों से टकरा रही हैं।'

महाकुमार ने चिंतित स्वर में कहा—'अवश्य ही हम मार्ग भटक गये हैं, और निकट ही कोई जल-गर्भस्थ चट्टान है। आप लोग सावधानी से तरणी का संचालन करें।' इतना कहकर उसने एक दृष्टि चारों ओर डाली।

क्षण-भर में ही तरणी चट्टान से जा टकराई। कुमारी संघमित्रा औंधे मुँह गिर पड़ी, और समस्त सामग्री अस्त-व्यस्त हो गई। कुमार ने देखा, चट्टान जल से ऊपर है। वह उस पर कूद पड़े। खड़े होकर उन्होंने अनंत जल-राशि को चारों ओर देखा। इसके बाद उन्होंने साथियों से, संकेत करके, नीचे बुलाकर, कहा—'हमें यहीं रात काटनी होगी। प्रातःकाल क्या होता है, यह देखा जायगा।' सब ने वहीं फलाहार किया, और उस ऊबड़-खाबड़, उजाड़ और सुनसान, क्षुद्र चट्टान पर वे चौदह व्यक्ति बिना किसी छाँह के अपनी अपनी बाहों का तकिया लगाकर सो रहे।

२

प्रातःकाल सूर्य की सुनहरी किरणें फैल रही थीं। समुद्र की उज्ज्वल फेन-राशि पर उनकी प्रभा एक अनिर्वचनीय सौंदर्य की सृष्टि कर रही थी। समुद्र शांत था, और जलचर जंतु जहाँ-तहाँ सिर निकाले, निःशंक, स्वच्छ वायु में, श्वास ले रहे

थे। कुछ दूर छोटे-छोटे पक्षी मंद कलरव करते उड़ रहे थे; वे नेत्र और कर्ण दोनों ही को सुखद थे।

महाकुमारी आर्या संघमित्रा चट्टान पर चढ़कर, सुदूर पूर्व दिशा में आँख गाड़कर, कुछ देख रही थीं। महाराजकुमार ने उसके निकट पहुँचकर कहा—'आर्या संघमित्रा, क्या देख रही हो ?'

संघमित्रा के होठ कंपित हुए। उसने संयत होकर, विनम्र और मृदु स्वर में कहा—'भिक्षुवर ! जिस पृथ्वी को हमने छोड़ा है, वह यहीं सम्मुख तो है। पर ऐसा प्रतीत होता है, मानो युग व्यतीत हो गया, और माता पृथ्वी के दूसरे छोर पर हम आ गये। सोचिए, अभी हमें और भी आगे, अज्ञात प्रदेश को जाना है। क्या वहाँ हम ठहरकर सद्धर्म-प्रचार कर सकेंगे ? देखो, प्रियजनों की दृष्टियाँ हमें बुला रही हैं, यह मैं स्पष्ट देख रही हूँ।' उसने अपना हाथ दूरस्थ पहाड़ियों की धुँधली छाया की तरफ़ फैला दिया, जहाँ पृथ्वी और आकाश मिलते दीख रहे थे। इसके बाद उसने महाकुमार की ओर मुड़कर कहा—'भाई, नहीं नहीं, भिक्षुराज ! चलो लौट चलें। घर लौट चलें। सद्धर्म-प्रचार का अभी वहाँ बहुत क्षेत्र है।'

महाकुमार ने कुमारी के और भी निकट आकर उसके सिर पर अपना शुभ हस्त रक्खा, और मंद-मंद स्वर से गंभीर मुद्रा में कहा—'शांतं पापम्, आर्या संघमित्रा ! शांतं पापम्।' महाकुमारी वहीं बैठकर नीचे दृष्टि किये रोने लगी।

कुमार की वाणी गद्गद हो गई थी। उसने कहा—'आर्या! हमने जिस महाव्रत की दीक्षा ली है, उसे प्राण रहते पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है। सोचो, हम असाधारण व्यक्ति हैं। हमारे पिता चक्रवर्ती सम्राट् हैं। मैं इस महाराज्य का उत्तराधिकारी हूँ। मैं जहाँ भिक्षाटन करने जा रहा हूँ, कदाचित् उसका राजा करद होकर मेरे पास भेंट लेकर आता। परंतु मैं उस प्रदेश की गली गली में एक एक ग्रास अन्न माँगूँगा, और बदले में सद्धर्म का पवित्र रत्न उन्हें दूँगा। क्या यह मेरे लिए और तुम्हारे लिए भी आर्या संघमित्रा, अलभ्य कीर्ति और सौभाग्य की बात नहीं? क्या तथागत प्रभु को छोड़कर और भी किसी सद्धर्मी ने ऐसा किया था? प्रभु की स्पर्धा करने का सौभाग्य तो भूत और भविष्य में, आर्या संघमित्रा, हमीं दोनों जीवों को प्राप्त होगा, तुम्हें मुझसे भी अधिक, क्योंकि सम्राट् की कन्या होकर भिक्षुणी होना स्त्री-जाति में तुम्हारी समता नहीं रखता। आर्या! इस सौभाग्य की अपेक्षा क्या राजवैभव अधिक प्रिय है? सोचो! यह अधम शरीर और अनित्य जीवन जगत् के असंख्य प्राणियों का किस प्रकार नष्ट हो रहा है। परंतु हमें उसकी महाप्रतिष्ठा करने का कैसा सुयोग मिला है; कदाचित् भविष्य काल में, सहस्रों वर्षों तक, हम लोगों की स्मृति श्रद्धा और सम्मान-सहित जीवित रहेगी।'

इतना कहकर महाकुमार मौन हो गये। कुमारी धीरे धीरे उनके चरणों में झुक गई। उसने अपराधिनी शिष्या की भाँति प्रथम बार सहोदर भाई से मानो भ्रातृ-संबंध त्याग कर अपनी मानसिक

दुर्बलता के लिए कर-बद्ध हो क्षमा-याचना की, और महाकुमार ने कर्मठ भिक्षु की भाँति उसका सिर स्पर्श करके कहा—'कल्याण !'

इसके बाद ही नौका तैयार हुई, और वह फिर लहरों की ताल पर नाचने लगी। बारहों साथी निस्तब्ध हो समुद्र की उत्तुंग तरंगों में मानों उस क्षुद्र तरणी को घुसाये लिये जा रहे थे। एक दिन और एक रात्रि की अविरल यात्रा के बाद समुद्र-तट दिखाई दिया। उस समय धीरे-धीरे सूर्य डूब रहा था, और उसका रक्त बिंब जल में आंदोलित हो रहा था। महाकुमारी ने सूर्य की ओर देखा, और मन ही मन कहा—'सूर्यदेव ! अभी उस चिर-परिचित प्रभात में मैं एक अविकसित अरविंद-कली थी। तुम्हारी स्वर्ण-किरण के सुखद स्पर्श से पुलकित होकर खिल पड़ी। मैं अपनी समस्त पँखुड़ियों में खिलकर दिन-भर निर्लज्ज की भाँति तुम्हें देखती रही। हाय ! किंतु तुम कितनी उपेक्षा से जा रहे हो ! जाते हो तो जाओ, मैं अपना समस्त सौरभ तुम्हारे चरणों में लुटा चुकी हूँ। अब सूखकर रज-कण में मिल जाना ही मेरी चरम गति है।'

उसने अति अप्रकट भाव से अस्तंगत सूर्य को प्रणाम किया, और टप से एक बूँद आँसू उसकी गोद में रक्खे बोधि-वृक्ष पर टपक पड़ी।

तट आ गया, और महाकुमार गंभीर मुद्रा से उस पर कूद गये। उसके बाद उन्होंने मुस्कराते हुए महाकुमारी को संकेत करके कहा—'आर्या संघमित्रा ! आओ, हम अभीष्ट स्थान पर पहुँच गये। इस क्षण से यह तट निर्वाण-तट के नाम से पुकारा जाय।'

सब ने चुपचाप सिर झुका लिया। तेरहों आत्माएँ, एक के बाद दूसरी, उस अपरिचित किनारे पर सदैव के लिए उतर पड़ीं, और प्रार्थना के लिए रेत में घुटनों के बल धरती में झुक गईं!

२

वह राजवंशीय भिक्षु उस स्थान पर समुद्र-तट से और थोड़ा आगे बढ़कर ठहर गया। उसके तेरहों साथी उसके अनुयायी थे। उन्होंने उस बोधि-वृक्ष की वहाँ स्थापना की। पत्थर और गारा इकट्ठा करके उन्होंने विहार बनाना आरंभ किया। धीरे-धीरे भवन बनने लगे, और आस-पास की अर्धसभ्य जातियों में उसकी ख्याति होने लगी। झुंड के झुंड स्त्री-पुरुष इस सुंदर, सभ्य, विनम्र तपस्वी के दर्शन करने को, उसका धर्म-संदेश और प्रेममय भाषण सुनने को आने लगे। इस पुरुष-रत्न के मनोज्ञ स्वर, बलिष्ठ शरीर, निरालस्य स्वभाव, आनंदमय और संतोष-पूर्ण जीवन और दयालु प्रकृति ने उन सहस्रों अपरिचितों के हृदयों को जीत लिया। वे उसे प्राणों से अधिक प्यार करने लगे। उसके प्रभावशाली भाषण में वे महाप्रभु बुद्ध की आत्मा को प्रत्यक्ष देखने लगे। उनके पुराने अंध विश्वास—उपासनाएँ—कुरीतियाँ इतनी शीघ्रता से दूर हो गईं, और वे अपने इस प्यारे गुरु के इतने पक्के अनुगामी हो गये कि थोड़े ही दिनों में प्रांत-भर में इस बात की चर्चा हो गई, और शीघ्र ही वह स्थान टापू-भर में विख्यात हो गया, और वहाँ नित्य मेला रहने लगा।

धीरे धीरे वह वन्य प्रदेश विशाल अट्टालिकाओं से परिपूर्ण हो गया। अब वह एक बड़ा विहार था, और उसमें केवल वे ही

चौदह भिक्षु न थे, किंतु सैकड़ों भिक्षु-भिक्षुणियाँ थीं, जो जगत् के सभी स्वार्थों और सुखों को त्याग कर पवित्र और त्याग-पूर्ण जीवन व्यतीत करने में रत थीं।

समुद्र की लहरें किनारों पर टकराकर उनके परिजनों की आनंद-ध्वनि की प्रतिध्वनि करती थीं, और उन महात्मा राजपुत्र और राजपुत्री एवं उनके साहसी साथियों को उत्साह दिलाती थीं, और अब उनके मन में कोई खेद न था। वे सब अति प्रफुल्लित हो अपने कर्तव्य का पालन कर रहे थे।

४

भिक्षुराज ध्यानावस्थित बैठे कुछ विचार कर रहे थे। आर्या संघमित्रा बोधि-वृक्ष को सींच रही थीं। एक भिक्षु ने बद्धांजलि होकर कहा—'स्वामिन्, सिंघलद्वीप के स्वामी महाराजा तिष्य ने आपको राजधानी अनुराधापुर ले जाने के लिए राजकीय रथ और वाहन तथा कुछ भेंट भेजी है; स्वामी की क्या आज्ञा है ?'

युवक भिक्षुराज ने बाहर आकर देखा; सौ हाथी, सौ रथ और दो सहस्र पदातिक एवं बहुत से भिन्न-भिन्न यान हैं। साथ में राजकीय छत्र-चँवर भी हैं। महानायक ने सम्मुख आ, नत-जानु हो प्रणाम कर कहा—'प्रभु, प्रसन्न हों। महाराजा की विनय है कि पवित्र स्वामी अनुचरों-सहित राजभवन को सुशोभित करें; वाहन सेवा में उपस्थित हैं। कुछ तुच्छ भेंट भी है।'

यह कहकर महानायक ने संकेत किया—तत्काल सौ दास

विविध सामग्री से भरे स्वर्ण-थाल ले, सम्मुख रखकर पीछे हट गये। उनमें बड़े बड़े मोतियों की मालाएँ, रत्नाभरण, रेशमी बहुमूल्य वस्त्र, सुंदर शिल्प की वस्तुएँ, बहुमूल्य मदिराएँ और विविध सामग्री थी। महाकुमार ने देखा, एक क्षीण हास्य-रेखा उनके ओठों पर दौड़ गई, और उन्होंने महानायक की ओर देखकर गंभीर वाणी से कहा—'महानायक, भिक्षुओं के भिक्षा-पात्र में यह राजसामग्री कहाँ समावेगी; मेरे जैसे भिक्षुओं को इसकी आवश्यकता ही क्या? इन्हें लौटा ले जाओ। महाराजा तिष्य से कहना, हम स्वयं राजधानी में आते हैं।'

भिक्षुराज ने यह कहा, और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही अपने आसन पर आ बैठे। राज्यवर्ग अपनी तमाम सामग्री ले वापस लौट गया।

राजधानी वहाँ से दूर थी, और यात्रा की कोई भी सुविधा न थी, परंतु उस टापू के राजा तिष्य को सद्धर्म का संदेश सुनाना परमावश्यक था। यदि ऐसा हो जाय, तो टापू-भर में बौद्ध-सिद्धांतों का प्रचार हो जाय।

महाकुमार ने तैयारी की। कुमारी और बारहों साथी तैयार हो गये, और वह दुर्गम यात्रा प्रारंभ हुई। प्रत्येक के कंधे पर उसकी आवश्यक सामग्री और हाथ में भिक्षा-पात्र था। वे चलते ही चले गये। पर्वतों की चोटियों पर चढ़े। घने, हिंस्र जंतुओं से परिपूर्ण वन में घुसे। वृक्ष और जल से रहित रेगिस्तान में होकर गुज़रे। अनेक भयंकर ग़ार और ऊबड़-खाबड़ जंगल, पेचीली

जंगली नदियाँ उन्हें पार करनी पड़ीं। अंत में राजधानी निकट आई।

राजा अंध-विश्वासों से परिपूर्ण वातावरण में था। सैकड़ों जादूगर, मूर्ख, पाखंडी उसे घेरे रहते थे। उन्होंने उसे भयभीत कर दिया कि यदि वह उन भिक्षु-यात्रियों से मिलेगा, तो उस पर दैवी कोप होगा, और वह तत्काल मर जायगा। परंतु उसने सुन रक्खा था कि आगंतुक, चक्रवर्ती सम्राट् अशोक के पुत्र और पुत्री हैं। उसमें सम्राट् को अप्रसन्न करने की सामर्थ्य न थी। उसने उनके स्वागत का बहुत अधिक आयोजन किया। उसे विचार था, महा-राजकुमार के साथ बहुत-सी सेना-सामग्री, सवारी आदि होंगी। पर जब उसने उन्हें पीत वस्त्र पहने, पृथ्वी पर दृष्टि दिये, नंगे पैरों धीरे-धीरे पैदल अग्रसर होते और महाराजकुमारी तथा अन्य अनुचरों को उसी भाँति अनुगत होते देखा, तब वह आश्चर्य-चकित रह गया; और जब उसने सुना कि उसकी समस्त भेंट और सवारी उन्होंने लौटा दी है, और वे इसी भाँति पैदल भयानक यात्रा करके आये हैं, तब वह विमूढ़ हो गया। कुमार पर उसकी भक्ति बढ़ गई। उसने देखा, राजकुमार के सिर पर मुकुट और कानों में कुंडल न थे, पर मुख कांति से देदीप्यमान हो रहा था। उन्होंने हाथ उठाकर राजा को 'कल्याण' का आशीर्वाद दिया। राजा हठात् उठकर महाकुमार के चरणों में गिर गया। समस्त दरबार के संभ्रांत पुरुष भी भूमि पर लोटने लगे।

महाकुमार ने प्रबोध देना प्रारंभ किया, और कहा—

'राजन, क्षमा हमारा शस्त्र और दया हमारी सेना है। हम इसी राजबल से पृथ्वी की शक्तियों को विजय करते हैं। हम सद्धर्म का प्रकाश जीवों के हृदयों में प्रज्वलित करते फिरते हैं। हम त्याग, तप, दया और सद्भावना से आत्मा का शृंगार करते हैं। हे राजन ! हम अपनी ये सब विभूतियाँ आपको देने आये हैं, आप इन्हें ग्रहण करके कृतकृत्य हूजिए।'

राजा धीरे-धीरे पृथ्वी से उठा। उसने कहा—'और केवल ये विभूतियाँ ही आपके इस प्रशस्त जीवन का कारण हैं?'

राजकुमार ने स्थिर-गंभीर होकर कहा—'हाँ।'

'इन्हीं को पाकर आपने साम्राज्य का दुर्लभ अधिकार तुच्छ समझकर त्याग दिया?'

'हाँ, राजन्!'

'और इन्हीं को पाकर आप भिक्षा-वृत्ति में सुखी हैं, पैदल यात्रा के कष्टों को सहन करते हैं, तपस्वी जीवन से शरीर को कष्ट देने पर भी प्रफुल्लित हैं।'

'हाँ, इन्हीं को पाकर।'

'हे स्वामी ! वे महाविभूतियाँ मुझे दीजिए, मैं आपका शरणागत हूँ।'

भिक्षुराज ने एक पद आगे बढ़कर कहा—'राजन, सावधान होकर बैठो।'

प्राण रहते अपना कर्तव्य पूर्ण किये जाना।'

उसके मुख पर संतोष के हास्य की रेखा थी।

उसी रात्रि को एक अनुचर ने, जो कुमार के निकट ही सोता था, देखा कि उनका आसन खाली है। वह तत्काल उठकर चिल्लाने लगा—'हे प्रभु! हे प्रभु!' समुद्र की लहरें किनारों पर टकराकर उस पार के मित्रों की आनंद-ध्वनि ला रही थीं। अनुचर ने देखा, महाकुमार भिक्षुराज बोधि-वृक्ष को आलिंगन किये पड़े हैं। उनके नेत्र मुद्रित हैं। अनुचर लपककर चरणों में लोट गया। लोग जाग गये और वहीं को आ रहे थे। इस भीड़ को देखकर कुमार मुस्कराये, सब को आशीर्वाद देने को उन्होंने हाथ उठाया, पर वह दुर्बलता के कारण गिर गया। धीरे-धीरे उनका शरीर भी गिर गया। अनुचर ने उठाकर देखा, तो वह शरीर निर्जीव था। उस स्निग्ध चंद्रमा की चाँदनी में, उस पवित्र बोधि-वृक्ष के नीचे वह त्यागी राजपुत्र, ससागरा पृथ्वी का एकमात्र उत्तराधिकारी धरती पर निश्चित होकर अटूट सुख-नींद सो रहा था, और भक्तों में जो जो सुनते थे, एकत्र होते जाते थे, और चार आँसू बहाते थे।

७

वह आश्विन-मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी थी, जब भिक्षुराज महेंद्र ने जीवन समाप्त किया था। उस समय यह महापुरुष अपने भिक्षु-जीवन का साठवाँ वर्ष मना रहा था, उसकी आयु अस्सी वर्ष की थी। उसने अड़तालीस वर्ष तक लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया।

उस समय महाराजा तिष्य को मरे आठ वर्ष बीत चुके थे। उसके छोटे भाई उत्तिय ने, जो अब राजा था, जब इस महापुरुष की मृत्यु का संवाद सुना, तब वह बालक की तरह रोता और बिलखता हुआ उस पवित्र पुरुष के गुण-गान करता दौड़ा।

राजा की आज्ञा से भिक्षुराज का शव सुगंधित तेल में रखकर, एक सुनहरे बक्स में बंदकर, अनेक सुगंधित मसालों से भर दिया गया। फिर वह एक सुनहरे शकट पर, बड़े जुलूस के साथ अनुराधापुर लाया गया। समस्त द्वीप के अधिवासियों और सैनिकों ने एकत्र होकर इस महाभिक्षुराज के प्रति श्रद्धांजलि भेंट की।

राजधानी की गलियों से होता हुआ जुलूस अंत में पनहंबमाल के विहार में जाकर रुका, जहाँ वह शव सात दिन रक्खा रहा। राजा की आज्ञा से विहार से पचीस मील तक चारों ओर का प्रदेश तोरण, ध्वजा, पताका और फूल-पत्तों से सजाया गया।

इसके बाद वह शव चंदन की चिता पर रक्खा गया, और राजा ने अपने हाथ से उसमें आग लगाई।

जब चिता जल चुकी, तब राजा ने राख का आधा भाग चैत्य-पर्वत पर महिंतेल में ले जाकर गाड़ दिया, और शेष आधा समस्त विहारों और प्रमुख स्थानों में गाड़ने को भेज दिया।

८

इस प्रकार अब से बाईस सौ वर्ष पूर्व वह महापुरुष असाधारण रीति से जन्मा, जिया और मरा। लंका-द्वीप को इस महा-

पुरुष ने जो लाभ प्रदान किया, वह असाधारण था। उसने यहाँ की भाषा, साहित्य और जीवन में एक नवीन सभ्यता की स्फूर्ति पैदा कर दी थी, और कला-कौशल में उत्क्रांति मचा दी थी। यह सब इस द्वीप के लिए एक चिरस्थायी वरदान था।

आज भी वर्ष के प्रत्येक दिन और विशेषकर पौष की पूर्णिमा को अनेकों तीर्थ-यात्री महितेल पर चढ़ते दिखाई देते हैं, और प्राचीन कथाओं के आधार पर इस महापुरुष से संबंध रखने वाले प्रत्येक स्थान की यात्रा करके श्रद्धांजलि भेंट करते हैं।

जिस स्थान पर महाकुमार का शव-दाह हुआ था, वह स्थान अब भी 'इसी भूमांगन' अर्थात् 'पवित्र भूमि' कहाता है, और तब से अब तक उस स्थान के इर्द-गिर्द पचीस मील के घेरे में जो पुरुष मरता है, यहीं अंतिम संस्कार के लिए लाया जाता है।

इस राजभिक्षु ने जिन जिन गुफाओं में निवास किया था, वे सभी महेंद्र-गुफा कहाती हैं। अब भी चट्टान में कटी हुई एक छोटी गुफा को 'महेंद्र की शय्या' के नाम से पुकारते हैं। पहाड़ी के दूसरी ओर 'महेंद्र-कुंड' का भग्नावशेष है, जिसे देखकर कहा जा सकता है कि उस पर न-जाने कितना बुद्धिबल और धन खर्च किया गया होगा।

क्या भारत के यात्री इस महान् राजभिक्षु की लीला-भूमि को देखने की कभी इच्छा करते हैं ?

श्री नाथूराम प्रेमी

जीवन-परिचय

आप दिगम्बर जैन हैं। मुम्बई में व्यवसाय करते हैं। प्रसिद्ध हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय के संस्थापक आप ही हैं। हिंदी के सिद्धहस्त लेखक हैं। विचित्र स्वयंवर और कुणाल दोनों कहानियों का आपने बंगला से अनुवाद किया है। हिंदी जैन साहित्य की भी आपने स्तुत्य सेवा की है। हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय में आपने आज तक जितनी भी हिंदी-पुस्तकें प्रकाशित की हैं, सब की सब साहित्य की दृष्टि से उच्च कोटि की हैं। मुम्बई में आप सब से पहले हिन्दी-पुस्तक-प्रकाशक हैं।

विचित्र स्वयंवर

लगभग तेरह सौ वर्ष पहले की बात है। अंग देश में सत्यसेन नाम का राजा राज्य करता था। यह राजा आंध्र वंश का था। इसके पूर्व पुरुषों ने दक्षिण से आकर अंग देश में राज्य स्थापित किया था। सत्यसेन ने चम्पा नगरी में राजधानी स्थापित करके अपने राज्य को उत्तर में मिथिला तथा मत्स्य देश तक और दक्षिण में गंगा नदी के सुंदर तट से कलिंग के सघन वनपर्यंत बढ़ा लिया था।

वह समय प्रभावशाली बौद्ध धर्म और निर्वाणोन्मुख वैदिक धर्म के संघर्षण का था। इस संघर्षण का ही संभवतः यह प्रभाव था कि उस समय के राजाओं को सवेरे तन्द्रा आती थी। प्रबल प्रतापी सत्यसेन रात को जागता था और दिन में सोता था। ठीक ही है, जिस समय साधारण जीव नींद लेते हैं, उस समय संयमी पुरुष जागते हैं! रौद्रमूर्ति राजा रात को तान्त्रिक बन जाता था और प्रभात

में वैदिक पूजापाठ समाप्त करके नौ बजे के पहले ही आँखें मूँदने लगता था। कोई कोई कहते हैं कि उस समय देश में बौद्ध धर्म के अभ्युदय का वही प्रभाव था, जो अफ़ीम के नशे का होता है।

अब तक जो थोड़े बहुत ग्रन्थ, पत्र, शिलालेख, ताम्रशासन, दानपत्र आदि पाये गये हैं, उनसे इस बात का पता लगता है कि संध्या के पहले ही सत्यसेन के हाथ, पैर, खड्ग और चाबुक आदि खुल जाते थे और दोषी, निर्दोषी, धार्मिक, अधार्मिक आदि सब ही के कंधों और पीठों पर बिना किसी विचार और आपत्ति के पड़ने लगते थे

सारी प्रजा थर थर काँपती थी।

सत्यसेन के और कोई संतान न थी; केवल एक कन्या थी। उसका नाम था मंद्रा। वह धनुर्बाण लेकर घोड़े पर चढ़ती थी और चाहे जहाँ, जब चाहे तब घूमा करती थी। वन, पर्वत, जंगल, मरुस्थल और श्मशान आदि सब ही स्थानों में उसकी गति अरोक थी। निशाना मारने में वह एक ही थी। पशु, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, चोर, डाकू आदि सब ही उसके भय से काँपते थे।

मंद्रा का शरीर कृश था। उसके भ्रमर सरीखे काले काले बाल कटि प्रदेश से नीचे तक लहराते थे। बड़ी बड़ी और काली आँखों के बीच में उसकी तीक्ष्ण दृष्टि स्थिर रहती थी। षोडशी गौरी के समान वह भुवनमोहिनी थी; परंतु उसके मृणाल के समान कोमल हाथ पत्थर से भी अधिक कठोर थे। वह हरिणी के समान चंचल और वायु के समान शीघ्रगामिनी थी।

मंद्रा के स्वयंवर की कई बार चर्चा उठी; परंतु दो सौ योजन तक की दूरी के किसी भी वीरपुरुष का यह साहस न हुआ कि वह उसके साथ पाणिग्रहण करने का उद्योग करे।

इतना ही नहीं कि वह किसी को पसंद नहीं करती थी—साथ ही वह यह भी समझती थी कि सब लोग भयानक चोर लंपट और डाकू हैं। इस बात की मनाई न थी कि कोई उसके राज्य में आवे जावे ही नहीं। नहीं, जिसको आना जाना हो खुशी से आवे और वहाँ रहे; परंतु कोई विवाह की चर्चा न करे। बस, अंग राज्य में सब से अधिक भयंकर बात उसके विवाह की चर्चा ही थी।

राजा सत्यसेन भी मंद्रा से डरता था। देश के दूसरे राजा और सारी प्रजा भी उससे भयभीत रहते थे। ऐसी दशा में उसके विवाह की चर्चा कौन उठावे ? मंद्रा कुमारी रह गई—उसका विवाह न हुआ।

मंद्रा की माता न थी। माता की मृत्यु के बाद पिता का सारा भार उसने उठा लिया था। इस तरह वह अपूर्व लड़की उस समय राजकार्य का भार, यौवन का भार, सुखदुख की स्मृति का भार, ज्ञान का भार और धर्म का भार लेकर अपने जीवन के पथ में अकेली चल रही थी।

राजसभा के विशाल भवन में आज बहुत से मंत्री, बड़े बड़े राजकर्मचारी और मित्रराज्यों के कई राजकुमार उपस्थित हैं। मंद्रा महाराज के सिंहासन के पीछे बैठी हुई है। एक ओर कर्ण-सुवर्ण के राजपुत्र कुमार नायकसिंह ऊँची गर्दन किये हुए उस

अद्भुत और अपूर्व बालिका के रूप को देख रहे हैं। नायकसिंह सुंदर, सुसज्जित और सुवीर हैं। वे मंद्रा के पाणिग्रहण की इच्छा से चम्पा नगरी में आये हैं।

एक सप्ताह के बाद अमावस्या है। इसलिए कालीपूजन और निमंत्रण आदि के विषय में विचार हो रहा है। सब ही की यह राय हुई कि पूर्व पद्धति के अनुसार अंग देश में कालीपूजा अवश्य की जाय।

राजा सत्यसेन बोले—'कुमारी मंद्रा से भी पूछ लेना चाहिए।'

मंद्रा निष्कंप और स्थिर दृष्टि से धरती की ओर देख रही थी और किसी गहरी चिंता में डूब रही थी। धीरे धीरे सब की आँखें झपने लगीं। राजा को, मंत्रियों को और प्रजा के लोगों को—सब को तंद्रा आने लगी।

मंद्रा के निद्रारहित नेत्रों को भी तंद्रा ने घेर लिया! बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी आँखें झपने लगीं।

इसी समय उस विशाल सभाभवन के द्वार पर एक भिक्षुक आकर खड़ा हो गया।

२

भिक्षुक का न सिर मुँडा था और न उसके हाथ में कमण्डलु ही था। एक सफ़ेद चादर से उसका सारा शरीर ढका हुआ था,

इसलिए यह न मालूम होता था कि वह बालक है या युवा, मोटा ताज़ा है या दुर्बल।

उसकी दृष्टि वैराग्यपूर्ण थी और आकार रहस्यमय था। उसके सिर के बाल कुछ कुछ जटाओं का रूप धारण कर रहे थे। उसके मोतियों के समान दाँतों के बीच में तुषार जैसी हँसी की रेखा झलकती थी और प्रशस्त ललाट में चिंता की कुछ कुछ सिकुड़न पड़ रही थी। उसका रंग उज्ज्वल था और शरीर प्रकाशवान।

भिक्षु ने धीरे धीरे भीतर पहुँचकर कहा—'सब का कल्याण हो।'

शब्द के होते ही उस विशाल भवन के हज़ारों तंद्रापूर्ण नेत्र उसके ऊपर जा पड़े।

निद्रा में एकाएक बाधा पड़ जाने से राजा सत्यसेन को बड़ा क्रोध आया। वे बोले—'यह आदमी चोर है।'

भिक्षु ने दोनों हाथ उठाकर कहा—'आपका कल्याण हो।'

तब मंद्रा ने पिता के कान में कुछ कहकर, सर्पिणी के समान क्रुद्ध होकर पूछा—'तुम किस राज्य के प्रजाजन हो?'

भिक्षु—विश्व-राज्य के।

मंद्रा—मालूम होता है तुम कोई स्वाँगधारी डाकू हो।

भिक्षु—कल्याण हो।

मंद्रा—कल्याण कौन करेगा?

भिक्षु—जीव अपना कल्याण आप ही करता है।

मंद्रा—मैं तुम्हारा परामर्श रूप ऋण नहीं लेना चाहती।

भिक्षु—मैं ऋण नहीं देता, दान करता हूँ। मैं देखता हूँ कि इस विशाल राज्य में शक्तिपूजा की तैयारी हो रही है; जो बहुत ही घृणित और हत्याकारी कर्म है। यह सृष्टि की बाल्यावस्था की अज्ञानजन्य क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आप ज्ञानलाभ करके इसे छोड़ दें।

प्रधान मंत्री बोला—'यह कोई बौद्ध भिक्षु है।' सेनापति रुद्रनारायण ने कहा—'इसको बाँधकर शूली पर चढ़ा देना चाहिए।'

मंद्रा क्रोध से जल उठी। उसने कठोर शब्दों में कहा—'काली-पूजा अवश्य होगी और उसमें सैकड़ों हजारों जीवों को बलि दिया जायगा। क्या इससे तुम्हारी कुछ हानि है? और क्या तुम जैसे क्षुद्र पुरुषों में उसके रोकने की शक्ति है?'

राजा बहुत ही प्रसन्न होकर हँसने लगे। लोगों ने सोचा था कि मंद्रा काली-पूजा का विरोध करेगी; परंतु उन्होंने देखा कि एकाएक इस रुकावट के आ जाने से उसका विचार बदल गया। मंद्रा का स्वभाव ही ऐसा था।

भिक्षु बड़े अभिमान के साथ ऊँचा मस्तक करके मंद्रा के प्रज्वलित नेत्रों की ओर स्थिर भाव से देखने लगा और बोला—

'राजकुमारी मंद्रा ! इस समय मैं तुम्हें ही काली समझता हूँ। कहो, तुम कितने हज़ार बलिदानों से तृप्त होओगी ?'

मंद्रा—तू देवद्वेषी और दुराचारी पुरुष है, इसलिए मैं पहले तेरी ही बलि लूँगी।

भिक्षु—यदि इस क्षुद्र जीव के बलिदान से तुम्हारे और तुम्हारी प्रजा के हृदय में करुणा का संचार हो, तो मैं तैयार हूँ। यह ठीक है कि दुर्दमनीय प्रकृति की संहारशक्ति को रोकने का बल मुझमें नहीं है; तो भी यदि प्रकृति चाहे, तो वह स्वयं उसे रोककर संसार को आनंदमय बना सकती है। इसलिए मैं उसे उत्तेजित या उद्दीपित करने के लिए तत्पर हूँ।

मंद्रा—किस उपाय से ?

भिक्षु—केवल निमित्त बनकर, अर्थात् सेवा करके, ज्ञान का प्रचार करके, और संयम की शिक्षा देकर। कुमारी, यह विशाल राज्य पतनोन्मुख हो रहा है। जब राजा के हृदय में दया नहीं है, और वह किसी को आत्म-त्याग करना नहीं सिखलाता, तब तुम निश्चय समझो कि एक राजा मिटकर हज़ारों राजा हो जायँगे और देश में राष्ट्रविप्लव हो जायगा। जब धर्म की जलती हुई आग राजसिंहासन से भ्रष्ट होकर अन्य आधार ग्रहण करती है और उस महान विप्लव के समय करुणा, स्नेह, पवित्रता, साम्य, शांति और प्रीति आदि सद्गुण नहीं होते, तब उसमें सब ही भस्म हो जाते हैं। इस बड़े भारी राज्य में पाप का प्रवेश हो गया

है। यहाँ मद्यमांस का श्राद्ध और सतीत्व धर्म का सत्यानाश किया जाता है। यहाँ निःसहाय और मूक प्राणियों को बलि चढ़ाकर पाप को उकसाया जाता है। कुमारी मंद्रा, कालीपूजा की फिर से प्रतिष्ठा कराके ये सब लोग बिना समझे बूझे घोर तामसी वृत्ति को अपनी ओर खींचने का उद्योग कर रहे हैं। तुम्हें चाहिए कि इस जीव-बलि की जगह आत्मबलि की शिक्षा देकर पूजाप्रतिष्ठा करो। यह आत्मबलि ही सच्ची कालीपूजा है। यह बौद्ध भिक्षु भी तुम्हारी इस पूजा का प्रसाद लेकर आत्मतुष्टि करेगा?

उक्त व्याख्यान सुनते सुनते बहुत से लोग फिर ऊँघने लगे। राजा साहब का उनमें पहला नम्बर था। मंद्रा ने कहा—'यह आदमी पागल है, इसको देवदत्त पुजारी के घर में कैद करके रक्खो।'

३

बूढ़ा देवदत्त पुजारी घोर शाक्त था। उसका एक वामनदास नाम का पुत्र था, जिसकी उमर लगभग १५ वर्ष के थी। वह एक बिल्ववृक्ष के नीचे बैठकर वेदपाठ करता था। उसकी बूढ़ी माता हरिनाम की माला जपा करती थी। पुजारी के घर में इन तीन जनों के अतिरिक्त सत्यवती नाम की एक लड़की और थी।

सत्यवती देवदत्त की कन्या है; परंतु कैसी कन्या है यह किसी को मालूम नहीं। कई लोगों का कथन है कि वह किसी क्षत्रिय की कन्या है। जब वह छोटी सी थी, तब देवदत्त उसे मिथिला से ले आया था। कोई कोई कहते हैं कि एक बार देवदत्त माघी पूर्णिमा

के मेले में गया था और वहाँ इसे गंगा नदी के तट पर अकेली पड़ी देखकर उठा लाया था। सत्यवती की अवस्था इस समय सत्रह वर्ष की है।

सत्यवती बहुत ही सुंदर है। उसका मुखकमल सदा ही प्रफुल्लित रहता है। घर के काम-काज में वह बड़ी चतुर है। सेवा शुश्रूषा करना ही उसका व्रत है। इसी व्रत में उसका जीवन और यौवन वर्द्धित और पालित हुआ है।

सेनापति रुद्रनारायणसिंह हाथ में नंगी तलवार लिये हुए देवदत्त के घर पहुँचा। क़ैदी भिक्षु उसके साथ था।

देवदत्त उसे देखकर बाहर आँगन में आ खड़ा हुआ।

सेनापति—राजकुमारी मंद्रा ने आज्ञा दी है कि यह बौद्ध-भिक्षुक आपके यहाँ सात दिन तक क़ैद रहे!

देवदत्त—इसके लिए कोई पहरेदार भी रक्खा जायगा?

सेनापति—न।

देवदत्त—तब तो बड़ी कठिनाई होगी! यदि कहीं भाग गया तो?

सेनापति—यदि भाग गया तो इसके साथ आपका यह जटाधारी मस्तक भी चला जायगा! इसलिए इसे किसी तरह अपने तन्त्रमन्त्रबल से बाँधकर रखिएगा।

सेनापति चला गया। देवदत्त ने भिक्षु की ओर देखा। उस देवतुल्य सुंदर युवा की मूर्ति देखकर उसे विश्वास हो गया कि भिक्षु

भाग जाने वाला व्यक्ति नहीं है। इसके बाद उसने कुछ सोचकर पुकारा—'सती !'

सत्यवती झरोखे में से देख रही थी। शीघ्र ही बाहर होकर नीचा सिर किये हुए बोली—'कहिए, क्या आज्ञा है ?'

देवदत्त—यह बौद्ध भिक्षु राजकुमारी की आज्ञा से सात दिन के लिए अपने यहाँ क़ैद रक्खा गया है। इसकी देखरेख रखने का भार तुम्हें सौंपा जाता है।

सत्यवती ने हँसकर कहा—'अच्छा, किंतु यदि यह भाग गया तो ?'

देवदत्त—यह वामनदास के बराबर न दौड़ सकेगा। उसको ज़रा मेरे पास बुला लाओ।

पिता की आज्ञा से वामनदास ने रात को पहरा देना स्वीकार किया। दिन की देखरेख का भार सत्यवती पर रहा।

भाई-बहन को भिक्षु की देखरेख का भार सौंपकर देवदत्त मंत्र जपने के लिए फिर घर में चला गया और वामनदास अपने वेदपाठ में लग गया। सत्यवती साहस करके भिक्षु के सामने खड़ी हो गई और बोली—'तुम्हें मैं क्या कहकर पुकारा करूँ ?'

भिक्षु—कुमारी, मैं तुम्हारी हथेली देखना चाहता हूँ।

सत्यवती ने आदरपूर्वक अपनी हथेली आगे कर दी। भिक्षु उसे अच्छी तरह देखकर विस्मयसागर में डूब गया। ऐसा मालूम होता था कि उसे कोई पुरानी बात, या कोई पुराना टूटा हुआ

बंधन, अथवा कोई छिपी हुई स्मृति याद आ गई है। उसने बहुत ही दुःखपूर्ण स्वर से कहा—'अमिताभ!'

सत्यवती—तुमने यह क्या संबोधन किया?

भिक्षु—तुम मुझे 'शरणाभैया' कहकर पुकारा करो।

सत्यवती ने चौंककर पूछा—'क्या तुम मेरे शरणाभैया को जानते हो?'

भिक्षु—यदि जानता होऊँ, तो क्या आश्चर्य है?

सत्यवती—मैं उन्हें स्वप्न में देखा करती हूँ। गंगा नदी के उत्तर में हिमालय से सटा हुआ एक अरण्य है। सीता का जन्म वहीं हुआ था। बहुत ही सुहावना वन है। वहाँ सोने के पक्षी जहाँ तहाँ वृक्षों पर उड़ा करते हैं और ऋषियों के समान सरल स्वभाव के मनुष्य वहाँ निवास करते हैं। उसी वन में मेरे शरणाभैया रहते हैं।

भिक्षु—नहीं, मैं उस वन में नहीं रहता। वह वन तो इस समय व्याघ्र और रीछों से भरा हुआ है। मैं एक बौद्ध भिक्षु हूँ। देश देश में धर्मप्रचार करता हुआ घूमा करता हूँ।

सत्यवती—पर यह बड़ा आश्चर्य है कि तुम्हारा और उनका नाम एक सा मिल गया। मेरे शरणाभैया, भिक्षु नहीं—राजपुत्र हैं।

भिक्षु—स्वप्न के राजपुत्र की अपेक्षा जागृतावस्था का भिक्षु अच्छा है। क्योंकि तुम्हारा यह भाई सत्य है और वह स्वप्न का भाई

मिथ्या है। सती बहन, तुम स्वप्न को छोड़कर सत्य का अवलंबन करो।

सत्यवती मंत्रमुग्ध सरीखी हो रही। उसने स्नेहपूर्ण स्वर से कहा—'अच्छा।'

४

राज्य के कोषाध्यक्ष लाला किशनप्रसाद ने मन-ही-मन सोचा कि राजकुमारी मंद्रा की इस अद्भुत आज्ञा का कोई न कोई गूढ़ आशय अवश्य है। एक युवा पुरुष को सत्यवती के समान सुंदर युवती के घर क़ैद करने की कूट नीति को लाला साहब तत्काल ही समझ गये। लाला साहब जाति के क्षत्रिय हैं। ३० वर्ष के लगभग होने पर भी आपका अभी तक विवाह नहीं हुआ। आप शक्ति की पूजा करते हैं। रंग आपका काला है; किंतु आप समझते हैं कि काला होने पर भी मैं सुंदर हूँ। शरीर की सजावट पर और कपड़ों लत्तों की बनावट पर आपका ध्यान बहुत रहता है। गुपचुप हँसना, चोरी करके सीनाज़ोरी करना, बातों में ज़मीन और आसमान के कुलावे मिला देना आदि आपके स्वभाव-सिद्ध गुण हैं। राज्य में आप एक पराक्रमी वीर समझे जाते हैं और धन दौलत भी सब आपके हाथ रहती है; इसलिए लोग आपको सेनापति और मंत्री की अपेक्षा भी अधिक मानते हैं। आप राजकुमारी मंद्रा के अतिरिक्त और किसी से नहीं डरते; क्योंकि आपकी शक्ति, बुद्धि, चालाकी आदि सब ही उसके सामने व्यर्थ हो जाती हैं।

लाला किशनप्रसाद देवदत्त के पड़ोस ही में रहते हैं। सत्यवती का अपूर्व रूप और विमल चरित्र देखकर आपका मन आपके वश में नहीं रहा है। किंतु जिसके कुल और शील का कुछ पता नहीं, ऐसी युवती के साथ विवाह करना मेरी प्रतिष्ठा के विरुद्ध है, यह सोचकर आपने अंत में यह निश्चय किया है कि किसी तरह सत्यवती को हरण करके उसके साथ गान्धर्व विवाह किया जाय।

लाला साहब ने बड़ी कठिनता से सत्यवती के हृदय में एक शरत्काल के बादल के टुकड़े की सृष्टि कर पाई है। सत्यवती सोचती होगी कि किशनप्रसाद मुझे चाहते हैं। जब आपने उसका यह अभिप्राय समझने की कोशिश की, तब आपके चित्त पर आशा की एक रेखा खिंच गई। थोड़े दिनों में यही रेखा एक प्रकार के आंदोलन से सारे हृदय में व्याप्त हो गई और अंत में वह इतनी प्रबल हो उठी कि कुछ दिन पहले जब आपने एक बार सत्यवती को अकेली पाया, तब आप अपने निस्वार्थ और हताश प्रेम का परिचय देकर रोने तक लगे और बोले—'यदि मेरा तुम्हारे साथ विवाह न होगा, तो मैं इस संसार को छोड़कर किसी अज्ञात तीर्थ पर जाकर मर जाऊँगा और मरके भूत बन जाऊँगा'। इस भूत की भीति और करुणा से अभिभूत होकर उस दिन सत्यवती ने कह दिया—'अच्छा, आप यह बात पिता जी से कहना।'

लाला साहब अपने मनोरथ के सिद्ध होने की आशा से आजकल खूब बन-ठनकर रहते हैं; किंतु इसी बीच यह बखेड़ा हो गया। उन्होंने देखा कि बखेड़े के संमुख बौद्ध भिक्षु और पीछे राजकुमारी मंद्रा खड़ी है।

चतुर किशनप्रसाद ने जहाँ तहाँ यह गप्प उड़ा दी कि बौद्ध भिक्षु बड़ा भारी योगी है; उसके योगबल की प्रशंसा नहीं हो सकती। बस, फिर क्या था, झुंड के झुंड स्त्री-पुरुष देवदत्त के घर आने जाने लगे। इसके सिवा लाला साहब कभी कभी मौका पाकर सुंदरी कुमारियों को संन्यासिनियों के वेष में और रूपवती वेश्याओं को गृहस्थों की कन्याओं के वेष में भी वहाँ भेजने लगे, जिससे कि किसी तरह भिक्षु पथ-भ्रष्ट हो जाय किंतु ये सब ही वहाँ से विफलमनोरथ लौटने लगीं। उस बौद्ध भिक्षु के अजेय हृदय-दुर्ग का एक अणु भी विचलित न हुआ। लाला जी की झूठी गप्प सच हो गई। उसका असीम करुणामय मुख देखकर और उसकी स्नेहमयी वाणी सुनकर सैकड़ों स्त्री-पुरुष बौद्धधर्म ग्रहण करने लगे।

यह बात धीरे धीरे राजकुमारी के कानों तक जा पहुँची। कृष्ण त्रयोदशी की संध्या को उसने सेनापति को आज्ञा दी कि 'किशनप्रसाद को इसी समय मेरे सामने लाया जाय।'

५

तत्काल ही किशनप्रसाद उपस्थित किया गया। सेनापति को वहाँ से चले जाने का इशारा करके राजकुमारी मंद्रा ने गरजकर कहा—'किशनप्रसाद, सच सच कहो, तुम्हारा क्या अभिप्राय है?' किशनप्रसाद ने हाथ जोड़कर कहा—'राजकुमारी, धर्म के नाते आप सब की माता हैं और मैं आपकी संतान हूँ। इसलिए मैं आप से कुछ छिपाना नहीं चाहता। सत्यवती पर मेरा अनुराग है—मैं उसे हृदय से चाहता हूँ; परंतु मालूम होता है कि आपने इस बात को न जानकर

इस दरिद्र के रत्न को किसी गूढ़ उद्देश्य से दूसरे के हाथ देने का संकल्प कर लिया है।'

मंद्रा—पापी, तू चरित्रहीन तस्कर है। तेरे मुँह से अनुराग और प्रेम की बात शोभा नहीं देती।

किशनप्रसाद—(विनीत भाव से) मैंने धीरे धीरे अपना चरित्र सुधार लिया है। अब मैं सत्यवती को व्याह कर किसी अन्य राज्य में जाकर रहने लगूँगा!

मंद्रा—'वाह, कैसा निस्वार्थ भाव है! अरे कृतघ्न, तू राजवंश के अन्न से पलकर अब क्या विद्रोही बनना चाहता है?'

किशन०—विद्रोही? मैंने ऐसा कौन सा काम किया है?

मंद्रा—तू भिक्षु को ललचाकर भ्रष्ट करना चाहता है और इसके लिए भरसक निन्द्य काम कर रहा है। परिणाम इसका यह है कि देश में बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

किशन०—मेरे ललचाने का इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं कि भिक्षु का मन सत्यवती से हटकर किसी दूसरी ओर लग जाय। और आपने जो बौद्धधर्म के प्रचार की बात कही है, सो भिक्षु को यहाँ से निकाल देने पर ही बस हो जायगी। उसके जाते ही बौद्धधर्म की जड़ उखड़ जायगी। राजकुमारी, अब भी समय है—कुछ उपाय कर दीजिए, नहीं तो भिक्षु सत्यवती को लेकर भाग जायगा।

मंद्रा—तू झूठ बकता है।

किशन०—नहीं, मैं सच कहता हूँ।

मंद्रा की आवाज़ लड़खड़ा गई। इसके पहले अंगराज्य की राजकुमारी की कठोर आवाज़ को किसी ने भी लड़खड़ाते न सुना था।

मंद्रा०—किशनप्रसाद, क्या यह बात सच है?

किशन०—बिलकुल सच है। सत्यवती भिक्षु को अपना हृदय सौंप रही है।

मंद्रा—और भिक्षु?

किशन०—वह तो कभी का सौंप चुका है।

जिस तरह हवा के तेज़ झोंके से वृक्षों में से सनसन करती हुई आवाज़ निकलने लगती है, उसी तरह की दुःखभरी आवाज़ से मंद्रा ने कहा—'क्या सौंप चुका है?'

किशन०—हृदय।

मंद्रा—पापी, तू क्या जानता है कि हृदय किस तरह सौंपा जाता है?

किशनप्रसाद ने मन-ही-मन कहा—हाँ, खूब जानता हूँ। अब केवल उपाय निकलने की देरी है फिर तो काम सिद्ध ही हुआ समझो। इसके बाद उसने प्रकाशरूप से कहा—'राजकुमारी, आप मेरी बात पर तब विश्वास करेंगी, जब आप आज या कल सुनेंगी

कि भिक्षु सती को लेकर भाग गया। कहिए, अब इस सेवक के लिए क्या आज्ञा है ?'

मंत्री—तुम उसे रोकना और दोनों को बाँधकर ले आना। ज़रूरत हो तो सेनापति की भी सहायता ले लेना; अंगराज्य से एक कुमारी को लेकर—

किशन०—भागना—

मंत्री—बड़ा भारी अपराध है। उसको कठिन दंड देना चाहिए।

किशनप्रसाद चला गया।

आधी रात का समय है। भिक्षु देवदत्त के घर ध्यान में मग्न हो रहा है। इतने में सत्यवती ने धीरे से आकर किवाड़ खोले और दुःखभरे कण्ठ से कहा—'शरण भैया !'

भिक्षु ने आँखें खोलकर कहा—'क्यों सती ?'

सत्यवती—शरण भैया, मैं तुम से एक बात न कह पाई थी। आज किशनप्रसाद मुझे तुम्हारे पास से छीन ले जायगा।

भिक्षु—(विस्मित होकर) इसका क्या मतलब ? यह तो मैं जान गया हूँ कि किशनप्रसाद दुराचारी पुरुष है; परंतु उसे तुम्हें छीन ले जाने का क्या अधिकार है ?

सत्यवती—किशनप्रसाद मेरे साथ विवाह करना चाहता था। परंतु उसकी यह इच्छा पूरी न हुई; इसलिए आज रात को वह मुझे

बलपूर्वक ले जायगा। इस संकट से बचने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि इस देश को ही छोड़ दिया जाय। भैया, इस देश में धर्म नहीं है। मैं तो अब संन्यासिनी हो जाऊँगी और बुद्ध भगवान की शरण लेकर घर घर भीख माँगकर अपना जीवन व्यतीत करूँगी।

भिक्षु ने उस कोठरी के टिमटिमाते हुए दीपक की ओर देखकर एक लम्बी साँस ली और कहा—'अच्छा, भगवान की इच्छा पूर्ण हो। संन्यासिनी बहन, लो, अब तुम तैयार हो जाओ। यह तो तुम्हें मालूम है कि जंगल बड़ा दुर्गम है। क्या तुम मेरे साथ दौड़ सकोगी।'

सत्यवती के हृदय में एक अलौकिक शक्ति का संचार हो गया; उसने आनंद और उत्साह से कहा—'जंगल क्या चीज़ है, मैं नदी और पर्वतों को भी सहज ही पार कर जाऊँगी।'

सारा नगर घोर निद्रा में मग्न था। चारों ओर सन्नाटा छा रहा था। रास्तों पर एक भी मनुष्य नहीं दिखाई देता था। भिक्षु सत्यवती के साथ देवदत्त के घर से चल दिया।

६

रात ढल चुकी थी। राजकुमारी मंद्रा चम्पागढ़ के सिंहद्वार को पार करके ठहर गई। वह एक शीघ्रगामी घोड़े पर सवार थी और हाथ में धनुर्बाण लिये थी। उसने कुमार नायकसिंह

को पुकारकर कहा—'कुमार, आप अंगराज्य के पुराने मित्र हैं। इस समय आपको मेरी एक बात माननी होगी!'

कुमार नायकसिंह ने प्रसन्नता-पूर्वक कहा—'मैं आपकी आज्ञा पालन करने के लिए तैयार हूँ।'

मंद्रा—'राजधानी से बाहर जाने के केवल दो ही रास्ते हैं। अभी थोड़ी ही देर पहले बौद्धभिक्षु कुमारी सत्यवती को लेकर भागा है। यह तो नहीं मालूम कि वह किस रास्ते गया है; परंतु गया है इन्हीं दो रास्तों में से किसी एक से। अभी घड़ी भर पहले ही किशनप्रसाद ने मुझे इस बात की सूचना दी है। अतएव राजधर्म के अनुसार उन दोनों को रोकना हमारा कर्तव्य है। एक रास्ते से तो मैंने किशनप्रसाद खज़ांची और रुद्रनारायण सेनापति को चार होशियार सैनिकों के साथ भेज दिया है। अब एक रास्ता और है। आपकी शूरवीरता की मैंने बहुत प्रशंसा सुनी है। इसलिए मैं चाहती हूँ कि इस दूसरे रास्ते से आप ही जावें और भिक्षु तथा सत्यवती को क़ैद कर लावें। आप घोड़े पर सवार होकर अकेले ही जाइए। ज़रूरत होगी तो मैं भी आपकी सहायता करूँगी।'

कुमार नायकसिंह ने एड़ लगाकर अपना घोड़ा छोड़ दिया। मंद्रा को घबराई हुई और चिन्तित-सी देखकर नायकसिंह के मन में बारबार यह प्रश्न उठने लगा कि बौद्ध भिक्षु के मार्ग में मंद्रा का क्या काम?

काली रात है। नैश वायु दूरवर्ती पर्वत माला से टकराकर अरण्य को व्याप्त कर रही है। तारे छिटक रहे हैं। पूर्व की ओर

के आकाश में बादलों के कई सफ़ेद सफ़ेद टुकड़े इधर उधर बिखर रहे हैं।

लगभग एक कोस चलकर सत्यवती ने कहा—'शरण भैया, मालूम होता है पीछे से हमें पकड़ने के लिए घुड़सवार आ रहे हैं।'

भिक्षु ने हँसकर कहा—'सत्यवती, मैं अपने जीवन में ऐसे बहुत से घुड़सवार देख चुका हूँ। उनका मुझे ज़रा भी भय नहीं; भय है तो केवल तुम्हारी रक्षा का। इस समय बस एक ही उपाय है। देखो, इस ऊँचे पर्वत की बाईं ओर से एक दूसरा रास्ता गया है, तुम उसी रास्ते से भागो। मैं इन सब को हटाकर तुम्हारे पास आता हूँ।

सत्यवती भय के मारे कुछ न कह सकी और बतलाये हुए रास्ते से भागी। थोड़ी ही देर में चार सवारों ने और सेनापति रुद्रनारायण ने आकर भिक्षु को घेर लिया। केवल किशनप्रसाद घोड़े पर चढ़े हुए खड़े रहे।

पाँचों सवार तलवारें सूँतकर भिक्षु को पकड़ने की चेष्टा करने लगे।

इसी समय किशनप्रसाद ने चिल्लाकर कहा—'और सत्यवती कहाँ है? वह अवश्य ही किसी दूसरे रास्ते से भाग गई है!'

किशनप्रसाद को उसी रास्ते से जाते देख भिक्षु ने गर्जकर कहा—'सावधान, पापिष्ठ, खड़ा रह। अपने हाथ से अपनी मौत मत बुला।'

उसी समय, बात की बात में भिक्षु ने लपककर एक योद्धा के हाथ से तलवार छीन ली और वह रणस्थल में अड़ गया। अपने विलक्षण हस्तकौशल तथा असीम पराक्रम से उसने चार योद्धाओं को बात की बात में परास्त और निरस्त्र कर दिया। धराशायी योद्धाओं में से रुद्रनारायणसिंह भिक्षु के सामने बहुत देर तक टिका रहा। अंत में उसने कहा—'भिक्षु, तुम्हारा वीरत्व और युद्धकौशल अपूर्व है। बौद्ध धर्म छोड़कर यदि तुम क्षत्रिय-धर्म ग्रहण करते, तो अवश्य ही किसी विशाल राज्य के सिंहासन को सुशोभित करते ?'

इसके उत्तर में भिक्षु ने कहा—'वीर, मैं इस समय तो धर्म की रक्षा के लिए अवश्य ही क्षत्रिय हूँ; परंतु कल फिर गली गली में भटकने वाला भिखारी हो जाऊँगा। इस समय डाकुओं के हाथ से इस भिखारी को अपने एकमात्र धन—'

इसी समय अंधकार में से किसी स्त्री के कण्ठ का शब्द सुन पड़ा। भिक्षु ने देखा कि थोड़ी ही दूर पर राजकुमारी मंद्रा धनुर्बाण लिये खड़ी है।

मंद्रा ने कठोर स्वर से कहा—'भिक्षु, अपने धनरत्न के उद्धार करने के पहले तू मेरे इस बाण से अपना उद्धार करने की चेष्टा कर।'

मंद्रा का निशाना अचूक था। उसका तीक्ष्ण बाण भिक्षु के बाएँ पैर की तली को पार कर गया!

उस समय आकाश घने मेघों से आच्छादित हो रहा था। ठंडी हवा प्रबल वेग से बह रही थी। धीरे धीरे अंधकार और निबिड़ होने लगा। मंद्रा भिक्षु को न देख सकी। वह एक बार केवल यही सुन सकी कि, 'सत्यवती, तुम निर्दोष हो। तुम्हारा कल्याण हो।' भिक्षु का यह स्वर बड़ा ही करुण और निर्वेद-पूर्ण था।

इसी समय बिजली की कड़क से वन पर्वत काँप उठे।

मंद्रा ने अपने धनुर्बाण को फेंक दिया। वह उस गहरे अंधकार में पगली के समान पुकारने लगी—'तुम कहाँ हो! भिक्षु, तुम कहाँ हो!' किंतु भिक्षु का कहीं पता न था। झंझावायु से क्षुब्ध हुए उस अरण्य में केवल यही प्रतिध्वनि सुन पड़ती थी कि 'भिक्षु, तुम कहाँ हो!'

७

कुमार नायकसिंह आकाश की अवस्था देखकर घोड़े से उतर पड़े और एक बड़े पत्थर के सहारे खड़े हो रहे। इस समय उनका चित्त उदास था। इतने में बिजली फिर चमकी। उन्होंने देखा कि सत्यवती उनके पास ही से भागी जा रही है। वे उसे रोककर बोले—'सुंदरी, मैंने एक वीरवंश में जन्म लिया है। अपने जीवन में मुझे बुरे और भले दिन, रणभूमि और रंग-भूमि सब ही कुछ देखने का अवसर मिला है। इससे कहता हूँ कि इस अँधेरी रात में यह कंटकमय और पथरीला रास्ता तुम जैसी

अबलाओं के लिए घर का आँगन नहीं है। तुम भागने का प्रयत्न मत करो।'

कुमार नायकसिंह को अंगदेश में प्रायः सब ही जानते थे। सत्यवती भी उन्हें पहचान गई, इसलिए खड़ी हो रही और आँखों में आँसू भर हाथ जोड़कर बोली—'कुमार, मैं अनाथा हूँ। मुझे तुम भले ही कैद कर लो; परंतु भिक्षु 'शरण्य भैया' को छोड़ दो।'

कुमार—उन्हें छोड़ देने का अधिकार तो मंत्री को है। हाँ, मैं तुम्हें अवश्य छोड़ सकता हूँ। छोड़ देने में कुछ दोष भी नहीं है, क्योंकि तुम भागना नहीं जानतीं।

पीछे से किसी ने कहा—'नहीं, कभी न छोड़ना। यह रमणी मेरी प्रणयिनी है।'

लाला किशनप्रसाद ने युद्धस्थल में अपनी बहादुरी की सीमा दिखलाने के लिए थोड़ी सी शराब पी ली थी। आप कुछ पास जाकर बोले—'सत्यवती, तुम्हारा दास तुम्हारे सामने खड़ा है।'

सत्यवती ने कातर स्वर से कहा—'कुमार, मुझे बचाओ।'

'तुम्हें बचाने की शक्ति किसी में नहीं है!' कहकर लाला साहब ने सत्यवती का हाथ पकड़ लिया।

कुमार नायकसिंह ने सोचा, इस समय इस पिशाच की लात घूँसों से पूजा करना ही विशेष फलप्रद होगा; और बिना कुछ कहे सुने उन्होंने वैसा ही किया।

सत्यवती को छुड़ाकर कुमार ने लाला साहब की खूब पूजा की और उन्हें एक झाड़ से उन्हीं के दुपट्टे द्वारा कसकर बाँध दिया।

मंद्रा वृत्त की ओट में खड़ी हुई ये सब बातें देख रही थी; इतने में थोड़ी ही दूर से किसी की आवाज़ सुनाई दी—'सती! सती!'

सत्यवती ने कुमार का हाथ पकड़कर कातर स्वर से कहा—'कुमार, यह मेरे शरण भैया की आवाज़ आ रही है। तुम उन्हें किसी तरह बचा लो।'

कुमार नायकसिंह ने कुछ आगे बढ़कर गंभीर भाव से पुकारा—'तुम कहाँ हो?'

भिक्षु ने पूछा—'तुम कौन?'

कुमार—बौद्ध भिक्षु, मैं नायकसिंह हूँ। तुम किसी तरह का भय मत करो। सत्यवती सकुशल है और लाला किशनप्रसाद झाड़ से बँधे पड़े हैं।

भिक्षु समीप आ गया और नायकसिंह का हाथ अपने हाथ में लेकर बोला—'भाई, तुम्हें स्मरण होगा कि मेरे पिता महाराजा अजीतसिंह ने पाटलिपुत्र के युद्ध में तुम्हारे पिता के प्राण बचाये थे। मेरे पैर में बाण लग गया है। मुझमें भागने दौड़ने की शक्ति नहीं; इसलिए अब मैं धीरे धीरे चलता हूँ और मन्दार पर्वत की सघन झाड़ी में जो एक कुटीर है, वहाँ जाकर लेटता हूँ।

कुमार नायकसिंह, इस समय तुमने जिस अबला के धर्म की रक्षा की है वह सत्यवती मेरी छोटी बहन है। कुम्भ के मेले में उसे कोई डाकू उठा ले गया था। इतने समय के बाद अब उसका पता लगा है। तुम सावधान रहना; मिथिला की राजकुमारी को मैं तुम्हारे ही पास छोड़ जाता हूँ।'

भिक्षु चला गया। सत्यवती दौड़कर पास आ गई और पूछने लगी—'कुमार, क्या अभी तुम्हारे पास मेरे 'शरण भैया' थे? हाय! वे कहाँ चले गये?'

नायकसिंह ने कहा—'कुमारी सत्यवती, जिन बुद्ध भगवान् ने तुम्हारे भाई को आश्रय दिया है, मैंने भी अब उन्हीं की शरण ले ली है। तुम्हें अब कोई डर नहीं है। तुम इस समय शिलाकंदर में बैठ जाओ, मैं ज़रा यहाँ वहाँ चलकर देखूँ, क्या हाल है।'

मूसलाधार पानी बरस रहा था। अंधकार इतना गहरा था कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था। कुमार नायकसिंह ने बिजली के प्रकाश में देखा कि मंद्रा पगली के समान चली जा रही है। उसके नेत्र उस गहन अंधकार को भेदकर भिक्षु का अनुसरण कर रहे हैं। नायकसिंह को देखकर उसने पूछा—'कुमार, भिक्षु कहाँ गया?'

नायकसिंह ने धीरे से पूछा—'क्यों?'

मंद्रा—नायकसिंह, तुमने कभी प्यार किया है?

नायकसिंह ने कुछ हँसकर कहा—'मैं समझता हूँ कि प्यार के परिचय देने का न तो यह स्थान है और न यह समय है। जिस

बात को मैंने आज लगभग सात वर्ष से अपने हृदय में छिपा रक्खा है, उसे अभिनय के अंतिम अंक में प्रगट करना, कहाँ तक संगत या असंगत—'

मंद्रा—कुमार, मैं तुम्हारे प्रणय या प्यार के योग्य नहीं हूँ। भाई, क्षमा करना। आज मेरा निर्मम पाषाण हृदय चूर्ण हो गया है।

मंद्रा अपने आपको भूल गई। उसने अपने मस्तक को कुमार के वक्षःस्थल पर रख दिया। उसके भीगे हुए बालों और वस्त्रों को देखकर नायकसिंह काँप उठे। उन्होंने अकुलाकर कहा—'कुमारी मंद्रा, तुम शीघ्र ही राजमहल को लौट जाओ।'

'नहीं भाई, मेरे जीवन का भी आज अंतिम अंक है। मैंने जिन्हें अपने बाण से विद्ध किया है, अब मैं उन्हीं के चरणों का अनुसरण करूँगी। मेरा संसार और स्वर्ग अब उन्हीं के पदतलों में है!' यह कहते कहते मंद्रा रोने लगी।

कुमार नायकसिंह ने धीरे धीरे कहा—'अच्छा मंद्रा, जाओ। तुम उन्हें मन्दार पर्वत की दक्षिण कुटीर में पाओगी।'

यह सुनकर मंद्रा उस विषम मार्ग में तेज़ी से दौड़ पड़ी।

पानी बरस रहा है। चतुर्दशी की पिछली रात है। सत्यवती दबे पैरों कुमार के पास आकर बोली—'कुमार, यह अभी तुम्हारे पास से कौन चला गया?' सत्यवती भय से काँप रही थी। नायकसिंह ने कहा—'अंगराज्य की शक्ति मंद्रा!'

सत्यवती—वह कहाँ गई है?

नायक—तुम्हारे 'शरण भाई' की चरणशरण में। देखो, ऊपर बुद्ध-शक्ति है और नीचे धरातल में राज-शक्ति। यह सब तुम्हारे भाई ही की महिमा है।

सत्यवती—कुमार, क्या मंद्रा से प्यार करते हो ?

कुमार—जान पड़ता है करता हूँ; किंतु क्या तुमने हम दोनों की बातचीत सुन ली है ?

सत्यवती ने लजाकर कहा—'हाँ, सुन ली है; परंतु कुमार, अब तुम क्या करोगे ?'

सती का यह बालिकासुलभ प्रश्न सुनकर नायकसिंह की आँखों में प्रेम के आँसू भर आये। वे बोले—'करूँगा कुछ नहीं। संन्यास ले लूँगा।'

सत्यवती—'नहीं। तुम संसार में रहो। यदि कोई तुम से प्यार करता हो ?'

नायकसिंह ने अभिमान के साथ कहा—'तो मैं तुम्हारी सलाह मानने को तैयार हूँ ?'

८

धीरे धीरे बादल फटने लगे और जहाँ तहाँ हज़ारों लाखों तारे चमकने लगे। पर्वत के एक ओर, एकांत निर्जन वन में एक पुरानी टूटी फूटी कुटीर है। भिक्षु इसी कुटीर में पत्तों की शय्या पर सो रहा है। वह अपने बाणविद्ध पैर को एक पत्थर के ऊपर रक्खे

हुए है और बाईं भुजा को तकिया बनाये हुए सो रहा है। पैर से एक एक बूँद रक्त टपककर पर्णशय्या को रँग रहा है।

अभी सवेरा होने में कुछ विलम्ब है। बहुत ढूँढखोज करने के बाद मंद्रा ने कुटीर के द्वार पर आकर देखा कि भिक्षु नींद में अचेत पड़ा है।

मंद्रा पैरों के पास जाकर बैठ गई। उसने देखा कि तीक्ष्ण बाण मांस के भीतर चला गया है। इससे उसे अपार कष्ट हुआ। उसने अपने अंचल से एक प्रकार के वृक्ष की पत्ती निकालकर चुटकी से मसली और उसे घाव पर लगा दिया। इसके बाद वह अपने सुंदर केशों को तलवार की धार से काट-काटकर उस पर लगाने लगी और अंत में उसने अपने रेशमी ओढ़ने को फाड़कर तलुए से लेकर घुटने तक के भाग को खूब कसकर बाँध दिया। आज भिक्षु के चरणतल का स्पर्श करके मंद्रा ने अपने आपको परम भाग्यवती समझा। इस समय उसके प्रेम का प्रवाह अरोक था। अपने संकल्पित स्वामी के चरणों का चुम्बन करके वह आँसू बहाने लगी। इसी समय भिक्षु ने आँखें खोलकर पूछा—'तुम कौन हो ?'

मंद्रा—देव, मैं आपके चरणों की दासी हूँ।

भिक्षु—(विस्मित होकर) क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ?

मंद्रा—नाथ, यह स्वप्न नहीं, सत्य है। तुम मेरे जीवन के देवता हो। तुम्हारे चरण को विद्ध करके मैं आत्मबलि दे चुकी हूँ।

मंद्रा का यह सब से पहला प्यार या अनुराग था। इस समय उसके नेत्र पृथ्वी के प्रत्येक पदार्थ को प्रेममय और करुणामय देख रहे थे।

भिक्षु उठकर बैठ गया और बोला—'मंद्रा, मैं एक साधारण शरीरधारी हूँ, देव नहीं। मैं मनुष्य हूँ; किंतु संन्यासी हो गया हूँ। इसलिए संसार मेरे लिए निःसार और शून्य है। मेरा मार्ग दूसरा है और तुम्हारा दूसरा। तुम संसारमार्ग में ही रहो और अपने सुयश से जगत को उज्ज्वल करो। कभी अवसर आवेगा, तो मैं तुम्हारे यश को देख जाऊँगा। मंद्रा, तुम्हारे हृदय में जिस असीम करुणा का उद्गम हुआ है, मैं चाहता हूँ वह अंगराज में शत-सहस्र धाराओं के रूप में बहे और सब के लिए शान्तिदायिनी बने।'

मंद्रा ने हाथ जोड़कर कहा—'जीवननाथ, आप संसार को छोड़कर न जावें। याद कीजिए, आप प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके हैं।'

भिक्षु—कौन सी प्रतिज्ञा ? मुझे तो याद नहीं आती।

मंद्रा—देव, उस दिन आपने स्वीकार किया था कि मैं आत्मबलि देकर अंगराज्य में करुणा का संचार करूँगा। अब आप उसी सत्यपाश में बँधे रहो। भिक्षु महाशय, संसार में ही रहो; इसे मत छोड़ो। आपको देखकर मैं सीखूँगी और आपको अपने हृदयमंदिर में विराजमान कर मैं आपकी पूजा करूँगी। मुझे अब अपने धर्म की दीक्षा दो। भिक्षुराज, प्रतीत होता है कि बौद्ध-धर्म बहुत ही अच्छा धर्म है।

भिक्षु—कुमारी, क्या तुम मुझे संसारगृह में रखने के लिए तैयार हो ?

मंद्रा—सब तरह से। भिक्षु महोदय, अब मेरे हृदय के टुकड़े करके मत जाओ। मैं अपने प्राणों को तुम पर निछावर कर चुकी हूँ।

उस भुवनमोहन मुख से विषादमयी वाणी सुनकर भिक्षु उठ खड़ा हुआ। अपने पैरों में पड़ी हुई उस राजकुमारी को वह अपनी शक्तिशालिनी भुजाओं से उठाकर कुटीर के बाहर ले आया।

पूर्वाकाश से उषा की किरणें उन दोनों के मुख पर पड़कर एक अपूर्व चित्र की रचना करने लगीं।

बौद्ध भिक्षु ने मंद्रा के निष्कलंक और पवित्र मुख पर अपने दोनों नेत्र स्थापित करके कहा—'प्रेममयी, तुम इतनी व्याकुल क्यों होती हो ? जब महादेव जैसे तपस्वी भी इस माया के मान की रक्षा करने में संसारी हो गये हैं, तब मैं किस खेत की मूली हूँ ? कुमारी, मैं हिंदू क्षत्रिय हूँ। तंत्र का कलंक और जीवहत्या दूर करने के लिए बौद्धधर्म की सृष्टि हुई है। वस्तुतः बौद्धधर्म हिंदूधर्म से पृथक् नहीं है; और मैं बौद्ध होकर भी हिंदू हूँ। प्रिये, तुम्हारे पाणिग्रहण की अभिलाषा से मैंने लगभग एक वर्ष से मिथिला का सिंहासन छोड़ रक्खा है। भिक्षुवेष में अपने को छिपाये हुए

यह शरणसिंह जंगल और पहाड़ों में रहकर और नगरों में घूम-घूमकर जिस रत्न को ढूँढ रहा था, वह आज इसे मिल गया है।

मंद्रा का हृदय उछलने लगा। इस समय उसका प्रत्येक रक्तबिन्दु आनन्द से नाच रहा था। उसने अपने प्रेमपूर्ण नेत्रों को शरण की ओर फिराकर हँसी में कहा—'मैं तो पहले ही समझ गई थी कि तुम कोई ढोंगी तपस्वी हो!'

शरणसिंह—और इसी लिए तुमने मुझे बाणविद्ध करके स्वयंवर रचने की यह अद्भुत युक्ति सोची थी!

मंद्रा को इसका कोई उत्तर न सूझा। लज्जित होकर वह वहाँ से तत्काल ही भाग गई।

कुणाल

प्रियदर्शी महाराजा अशोक के पुत्र का नाम कुणाल था। कहते हैं, उसके नेत्र कुणाल या राजहंस के नेत्रों के समान सुंदर थे। इसी लिए पिता ने उसका प्यार का नाम कुणाल रक्खा था। उसे जो देखता था, वही प्यार करता था। महाराज ने अपने इस मुकुल के लिए एक और मुकुल तलाश किया। इस अनुपम जोड़ी को देखकर महाराज की सारी चिंताएँ दूर हो जाती थीं और उनका हृदय आनंदसागर में लहराने लगता था। वहू का नाम था कांचन। कांचन अपने छोटे से स्वामी के साथ हँसती खेलती, लड़ती झगड़ती, और रूठती मचलती हुई राजप्रासाद को संतत आनंदपूर्ण बनाये रखती थी। इस तरह वहू अपने नवजीवन के मधुर दिवसों को फूल की पँखुरियों के समान धीरे धीरे विकसित करती हुई आगे बढ़ने लगी। कुछ ही दिनों में ये दोनों मुकुल अच्छी तरह खिल उठे। सुंदर कुणाल और भी सुंदर दीखने लगा। उसके शरीर में नवयौवन ने प्रकट

होकर मानो मणि-कांचन का संयोग कर दिया।

राजकुमार को युवराजपद मिल चुका था।

राजधानी के समीप 'सुशय' नाम का एक प्रसिद्ध विहार था। एक दिन वहाँ के प्रधान स्थविर ने युवराज को एकांत में बुलाकर कहा—'वत्स, तुम्हारे ये सुंदर नेत्र आगे नष्ट हो जाने हैं; इन्हें स्थिर मन समझना। नेत्र बहुत ही चंचल होते हैं। खबरदार, कहीं इनकी चंचलता के वशीभूत हुए तो—इनमें आस्था रखना अच्छा नहीं। अनास्था—विरागता ही सुख का कारण है।'

* * * *

वसंत आ गया है। मलय-पवन घर घर में जाकर उसके आगमन की सूचना दे रहा है। वृक्ष, लता, पुष्प आदि सब ही आनंदमग्न दीखते हैं। जहाँ तहाँ उत्सवों की धूम है। वृक्ष मौर गये; फूल खिल उठे और कोयलें पंचम स्वर से गाने लगीं।

आज वसंत का उत्सव है। सारा नगर इस उत्सव में उन्मत्त हो रहा है। उद्यान में वसंतोत्सव का नाटक खेला गया। प्रधान नायक का पार्ट कुणाल ने लिया। उसके नाट्यकौशल को देख दर्शक-गण चित्रलिखित से हो रहे।

उत्सव की समाप्ति पर मुग्ध नर-नारी अपने अपने घर लौट आये। रंगालय में यवनिका पड़ गई। उद्यान के दीपक टिमटिमाने लगे।

राजान्तःपुर की सभी स्त्रियाँ आज मुग्ध हो रही थीं। उनमें से कोई तो उत्सव की मधुरिमा पर मुग्ध थी, कोई वहाँ के नाट्यकौशल पर और कोई पात्रों के कंठमाधुर्य पर; किंतु एक किसी और ही वस्तु पर मुग्ध थी और वह था कुणाल का सुंदर मुख। यह मुख-मुग्धा युवती महाराज अशोक की दूसरी महारानी तिष्यरक्षा थी!

सब लोग अपने अपने घर आ गये; परंतु मुग्धा न आई। वह अपने शरीर को वसंत की किल्लोलों में डूबता, उतराता हुआ छोड़कर, फूलों की सुगंधि और चंद्रमा की चाँदनी में पागल होकर राजमहल के बाहर खड़ी हो रही।

कुणाल घर आ रहा था। राजमहिषी मार्ग रोककर खड़ी हो गई। कुणाल अपनी विमाता के आवेशपूर्ण नेत्रों की ओर देखकर काँप गया।

वह आँखें नीची करके खड़ा रहा—ऊपर को सिर न उठा सका।

इस मूक अभिनय का पर्दा उठते न देख तिष्यरक्षा मन मारकर अपने महल में चली गई।

२

तक्षशिला के राजा कुंजरकर्ण पर एक लड़ाई का प्रसंग आ पड़ा। उसने सहायता के लिए अशोक के पास आमंत्रण भेजा। महाराज अशोक ने इस कार्य के लिए राजकुमार कुणाल को चुना।

कुणाल सेनापति बनकर तक्षशिला जा पहुँचा। राजा कुंजरकर्ण ने उसे अपने प्रासाद में ठहराकर उसका स्नेहपूर्वक अतिथि-सत्कार किया। कुणाल कुछ समय के लिए वहीं रह गया।

*　　*　　*　　*

इधर महाराज अशोक एकाएक बीमार हो गये। बीमारी ऐसी वैसी न थी; बड़े बड़े वैद्यों ने जवाब दे दिया। जीवन-प्रदीप के शीघ्र बुझ जाने की आशंका से महाराज अपने उत्तराधिकारी के विषय में चिंता करने लगे। उन्होंने कहा—'कुणाल सब प्रकार से योग्य है, वही मेरा छत्र ग्रहण करेगा। अच्छा, उसे शीघ्र बुलाने का प्रबन्ध किया जाय।'

यह सुनकर रानी ने अपने मन-ही-मन निश्चय किया—यदि कुणाल राजा हो गया तो मैं अपने अपमान का बदला कैसे चुकाऊँगी—मेरा तो सर्वनाश हो जायगा! नहीं, मैं उसे कभी राजा न बनने दूँगी। इसके बाद वह बोली—

'नहीं, कुमार को बुलाने की आवश्यकता नहीं है। आपका रोग शीघ्र दूर हो जायगा। मैं स्वयं इसका उपाय करती हूँ।'

महिषी के वचनों से महाराज प्रसन्न हो गये। उन्हें अपने जीवन की आशा बँध गई।

रानी ने अपने हाथों एक औषध तैयार की। उससे महाराज का रोग चला गया; वे बच गये और कृतज्ञता की दृष्टि से रानी के मुँह की ओर देखने लगे।

स्त्री के चंचल नेत्रों में कुटिल हँसी की रेखा दौड़ गई। वह बोली—'महाराज, आपका रोग चला गया, अब मेरी एक इच्छा पूरी कीजिए।'

'अवश्य करूँगा। कहो, तुम क्या चाहती हो?'

'मैं सात दिन के लिए महाराज के राज्य पर शासन करना चाहती हूँ।'

'अच्छा, सहर्ष स्वीकार है।'

राजसिंहासन पर बैठते ही महिषी ने आज्ञा दी—

'तक्षशिला को इसी समय दूत पठाया जाय। कुणाल एक बड़े भारी अपराध में अपराधी हुआ है। राजा कुंजरकर्ण के पास पत्र भेजा जाय कि अपराधी कुणाल के नेत्र निकलवा लिये जायँ और उसे अंधा कर देश से निकाल दिया जाय।'

पत्र महाराज अशोक की तरफ से लिखा गया। उस पर उनकी मुहर भी लगा दी गई!

३

कुंजरकर्ण ने पत्र पढ़ा और कुणाल को भी उसका दारुण संवाद सुनाया। कुणाल ने कहा—'पूज्य पिता की आज्ञा—राजा की आज्ञा मानना पुत्र का धर्म है। मैं आज्ञापालन करने के लिए तैयार हूँ, परंतु एक प्रार्थना है, आज्ञापालन होने के पहले इसका संवाद देवी के कानों तक किसी तरह न पहुँचने पावे।'

उस समय देवी कांचन युवराज के साथ ही तक्षशिला के राजप्रासाद में उपस्थित थी।

ऐसा ही हुआ। देवी को मालूम न होने पाया और कुणाल के आँसू-भरे नेत्रों की पुतलियाँ निकाल ली गईं।

देवी कांचन कुछ कहने के लिए कुणाल के कमरे में आ रही थी। ज़ीने पर चढ़ते समय उसका पैर फिसल गया, सोने का नूपुर गिर गया, चंचल हवा के झोंके से गुलाबी अंचल उड़ पड़ा और शिथिल कबरी में से फूलों की माला खिसक गई।

'स्वामिन् स्वामिन्, देखो देखो—'

इसके उत्तर में कुमार ने ज्यों ही देवी की ओर मुँह करके कहा—'क्या है देवी !' त्यों ही मालूम हुआ कि देवी मूर्च्छित होकर गिर पड़ी है।

कुणाल ने कुंजरकर्ण को कहला भेजा—'देवी की मूर्च्छा दूर होने पर महाराज की दूसरी आज्ञा का पालन करूँगा।'

कुंजरकर्ण कुणाल को देखने के लिए आये थे। यह करुण दृश्य देखकर वे आँखों में आँसू भरे हुए ही वहाँ से लौट गये।

सारा दिन और सारी रात इसी प्रकार व्यतीत हुई; सवेरे देवी की मूर्च्छा दूर गई।

—'स्वामिन, चलो, हम इसी समय चले जावें। महाराज की दूसरी आज्ञा का पालन करने में अब विलम्ब न करना चाहिए।'

'—देवी, तुम मेरे पिता के घर चली जाओ।'

'—स्वामिन्, मैंने आपका यह हाथ पकड़ा है। यदि आप इतने निष्ठुर हो सकें—यदि आप मेरा हाथ छुड़ाकर जा सकें तो जाइए, मैं न रोकूँगी।'

युवराज और युवराज्ञी को देश-निकाला हो गया। दोनों वीणा बजाते हुए, आनंदामृतपूर्ण करुण गीत गाते हुए जहाँ तहाँ विचरने लगे।

इस तरह कई वर्ष बीत गये।

* * * *

एक दिन एक भिखारी और भिखारिन ने वीणा बजाते हुए पाटलीपुत्र में प्रवेश किया।

राजमहल के द्वार पर खड़े हुए पहरेदार ने भिखारी को भीतर जाते हुए धमकाया—'क्यों रे, राजमहल के भीतर जाना चाहता है? भाग यहाँ से।'

भिखारी और भिखारिन को हस्तिशाला में जाकर आश्रय लेना पड़ा। रात हो गई थी और स्थान खोजने के लिए समय नहीं बचा था; इसलिए विवश होकर बेचारों को वहीं टिक जाना पड़ा।

राजधानी दीपमाला से सुसज्जित हो रही थी। घर घर में आनंदस्रोत बह रहे थे। उद्यानों में रात्रि-विकासी फूल फूल रहे थे।

देखते देखते दीप बुझ गये। कोलाहल बंद हो गया। सारी नगरी में सन्नाटा छा गया।

उस निस्तब्ध नगरी के सिर पर शुभ्र चंद्र उदित हो गया था। हरे हरे सघन कुंजों के बीच में चाँदनी से धोई हुई धवल सौधावली चुपचाप खड़ी थी। निद्रा के साम्राज्य में सब सो रहे थे।

हस्तिशाला के पहरेदार की आँखें झपकने लगीं; किंतु सो जाने में उसकी कुशल नहीं है। उसने निंदियाने से डरकर भिखारी से कहा—'भाई, ज़रा अपनी वीणा की एक तान तो सुना दो।'

भिखारी की वीणा का सुर रात्रि की निस्तब्धता को भेद दूर दूर तक लहराने लगा—अंधकार में करुण वायु के साथ क्रन्दन करता हुआ वह बहने लगा।

महाराज सुखशय्या पर सो रहे थे। वीणा के उस करुण स्वर से वे जाग उठे। उन्होंने मन-ही-मन कहा—हो न हो यह चिरपरिचित स्वर है! यह वीणा कौन बजा रहा है! इसके बाद उनसे न रहा गया। वे तत्काल उठ बैठे और पागल के समान दौड़कर बाहर आ गये।

* * * *

पुत्र पिता के हृदय से लग गया। महाराज अशोक को विरहित पुत्र के सुखस्पर्श से रोमांच हो आया।

'ऐसे सुंदर नेत्र जिसने नष्ट किये हैं, क्या वह अपने नेत्र अक्षत रखकर जीवित रह सकता है ?' यह कहते कहते महाराज का कंठ क्रोध से रुँध गया।

कुणाल ने मधुर हँसी में कहा—'मेरे नेत्रों को निकलवाकर यदि माता को संतोष हुआ है, तो उनके उस संतोष से ही मैं फिर नेत्र पा लूँगा।'

उसी समय कुणाल को नेत्र प्राप्त हो गये !

इसके बाद युवराज कुणाल का धूमधाम से राज्याभिषेक किया गया। राजच्छत्र धारण करके वे सागरांत पृथ्वी पर शासन करने लगे।

पं० विनोदशंकर व्यास

जीवन-परिचय

व्यास जी का जन्म संवत् १९६० वि० को हुआ। इन्हें शिक्षा इन्ट्रेन्स तक भी पूरी न मिल सकी। स्कूल की पढ़ाई में इनका चित्त न लगता था। स्कूली समय और किताबों के बंधेज में रहना इनकी प्रकृति ने स्वीकार न किया। इनके कुटुम्बी इसी कारण इनसे खिंचे रहते थे। पर कुछ समय बाद जब व्यास जी ने साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया, तब इनके मित्र और कुटुम्बी आश्चर्य में पड़ गये और उनकी पहली विरक्ति अनुरक्ति में बदल गई।

व्यास जी की कहानियाँ भावप्रधान होती हैं। उनके करुणा-चित्र बड़े ही मर्मस्पर्शी होते हैं। उनकी भाषा-शैली बड़ी सरल, पर खरी चोट करने वाली होती है। सुख और समृद्धि का जीवन व्यतीत करते हुए दरिद्रता के भीषण नाटकों का सजीव चित्र दिखाना व्यास जी की विस्तृत और तीक्ष्ण अनुभूतियों का परिचायक है।

उनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं—नवपल्लव, तूलिका, अशांत, भूली बात, धूपदीप, प्रेम-कहानी, विदेशी दैनिक पत्र, ४१ कहानियाँ और कहानी-कला।

?

•

हम मरने से नहीं डरते; किंतु इस प्रकार का मरना वैसा ही है, जैसा वधिक द्वारा जँगले वाली गाड़ी में पकड़े हुए कुत्तों का।

यह तुम्हारी भूल है।

मेरी भूल ! कदापि नहीं, देखो—हम लोग भी कुत्तों ही की तरह जेल में बंद हैं ! जब वधिक रस्सी का फंदा बनाकर सड़क पर भागते हुए कुत्ते की ओर उसे फेंकता है, तब देखने वालों को तरस आता है और वे तालियाँ पीटकर 'धत्-धत्' चिल्लाते हुए उसे उस फंदे से बचाना चाहते हैं। ठीक उसी तरह, जब हम लोग गिरफ़्तार होते हैं, तब दर्शक 'वन्दे मातरम् ! भारत माता की जय !!' की पुकार मचाया करते हैं। यह ठीक वैसा ही है।

कानून भंग करने, जेल जाने और असहयोग करने के अतिरिक्त देश के पास और कोई साधन भी तो नहीं है।

गुलामी का बदला—गुलामी का बदला—दाँत पीसकर कहते-कहते उसका मुँह रक्त हो गया, सिर के बाल खड़े हो गये, भवें तन गईं और उन खूनी आँखों में क्रांति की ज्वाला भड़कने लगी।

मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा।

उसने फिर उसी स्वर में कहा—संसार के इतिहास में कोई भी ऐसा देश नहीं, जो युद्ध के बिना स्वतंत्र हुआ हो। स्वाधीनता का मूल्य मृत्यु है। सपना देखकर कोई मुक्त नहीं हो सकता। आदर्श सिद्धांत लेकर सब महात्मा नहीं बन सकते। मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता, मैं तो युद्ध में विश्वास करता हूँ। मैं कुत्तों की मौत नहीं चाहता, मैं योद्धा की तरह जूझना जानता हूँ।

मैंने बड़ा साहस करके कहा—किंतु मैं तुम्हारी इन बातों में विश्वास नहीं करता, यह सब असम्भव है।

उसने पूछा—बिलकुल नहीं ?

मैंने कहा—नहीं।

न जाने क्या समझकर वह चुप हो गया, फिर एक शब्द भी न बोला।

संध्या अस्ताचल पर सो रही थी। हम दोनों जेल की चारदीवारी के भीतर टहल रहे थे। वह पेड़ों के घने पल्लवों में अरुण किरणों का खेल देखने लगा। उसे लाल रंग अधिक पसंद था, क्योंकि वह क्रांति का उपासक था।

मेरी दृष्टि बूढ़े जमादार पर पड़ी। वह हमीं लोगों की ओर आ रहा था। उसने पास आकर हम लोगों की ओर देखते हुए पूछा— क्या, भागने की तरकीब लगा रहे हो ?

मैंने कुछ उत्तर न दिया; क्योंकि उसने अपनी पतली बेंत हिलाते हुए कई बार मुझ पर अपशब्दों का प्रहार किया था; किंतु मेरा साथी यह न सह सका। उसने फौरन उत्तर दिया—जिस दिन भागना होगा, उस दिन तुमसे पूछ लूँगा।

जमादार मन-ही-मन गुनगुनाता चला गया। हम लोग भी कैदखाने की कोठरी में चले आये। उस दिन उससे और कुछ बात न हुई।

दमन आरंभ हो गया था। असहयोग के दिन थे। जेलों की दशा मवेशीखानों से भी बदतर हो गई थी। खुली सभा में जोशीला भाषण देने के अपराध में मुझे भी छः मास की सज़ा मिली थी। जेल में ही मेरी-उसकी जान-पहचान हुई थी। पहली बार सामना होने पर उसने आँखें गड़ाकर मेरी ओर देखा था; जैसे कोई अपने किसी परिचित को पहचानने की चेष्टा कर रहा हो। कुछ देर बाद मेरे समीप आकर उसने पूछा—कितने दिनों के लिए आये हो ?

मैंने कहा—एक सौ बयासी !

वह मेरी तरफ़ देखता हुआ मुस्कराने लगा। परिचय बढ़ा, घनिष्ठता हो गई।

मेरे-उसके विचारों और सिद्धांतों में बहुत अंतर था; किंतु फिर भी मैं उसकी वीरता का आदर करता था।

दिन पहाड़ हो गये थे।

मैं जेल के कष्टों से जब घबरा जाता, तब यही विचार करता कि—हे भगवन्, कब यहाँ से छुटकारा मिलेगा। घर की चिंता थी—बाल-बच्चे भूखों मरते होंगे। क्या करूँ, कोई उपाय नहीं। ऐसी देश-सेवा से क्या लाभ? यहाँ तो घुल-घुलकर प्राण निकल जायँगे; किंतु हमारे इस जटिल जीवन की समस्याओं को कौन समझेगा? इस अभागे देश के लिए कितनों ने प्राण निछावर कर दिये; मगर आज उनके नाम तक लोग भूल बैठे हैं। यह सब व्यर्थ है, अभी इस देश के लिए वह समय नहीं आया है।

और, जब उसकी ओर देखता, तब हृदय में साहस उमड़ पड़ता। वह हँसते-हँसते प्राण तक उत्सर्ग कर देने में नहीं हिचकता। उसे किसी बात की चिंता ही न थी। वह इतनी लापरवाही से जेल में घूमता, हँसता और बोलता, मानों जेल ही में उसका घर हो। उसकी इस दृढ़ता पर मैं मुग्ध था। अपने हृदय को मैं कभी कभी टटोलने लगता। मैं सिद्धान्तवादी था। 'अहिंसा परमो धर्मः'—मेरा आदर्श था। मुझ जैसे लोगों को वह मन में कायर समझता था।

हमें आपस में बातें करने का अवसर कम मिलता था; क्योंकि हम लोग क़ैदी थे—ग़ुलाम थे—राजद्रोही थे! वह अपने हृदय को खोलकर मुझे नहीं दिखा सकता था, और मैं भी अपनी

बात उससे नहीं कह पाता था। पहरा बड़ा कड़ा था। जेल के निरंकुश शासन की जंजीरों में हम जकड़े हुए थे। फिर भी हम एक दूसरे को देखकर सब बातें समझ लेते थे। हमारी भाषा मौन थी।

इस तरह पाँच महीने समाप्त हुए!

३

मैंने पूछा—इस बार जेल से निकलने पर क्या करोगे?

उसने कहा—डाका—हत्या—पूँजीपतियों का विध्वंस—ग़रीबों का राज्य-स्थापन!

मैंने पूछा—विवाह नहीं करोगे?

नहीं।

क्यों?

वह एक दृढ़ बंधन है।

तुम्हारे घर में कौन-कौन हैं?

बूढ़े माँ-बाप और.........

और?—

कोई नहीं; बड़ा भाई काला-पानी भेज दिया गया!

'...............'

'...............'

तब माँ-बाप का निर्वाह कैसे होता है? घर की कुछ सम्पत्ति होगी?

राजपूताने में जागीर थी, वह अब ज़ब्त हो गई है।

उनके प्रति भी तुम्हें अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

उनकी आज्ञा और आशीर्वाद से ही तो मैं यह सब कर रहा हूँ।

क्या तुम्हारे इस कार्य से वे हिचकते नहीं?

नहीं। दुःख हम लोगों का सहचर है, और मृत्यु ही हमारा जीवन।

विचारों की इस भीषणता ने तुम्हारे हृदय को पत्थर बना दिया है!

हो सकता है।

तुमने कभी किसी को प्यार भी नहीं किया?

यह कैसे समझा?

तुम्हारी बातों से।

मेरे प्यार में मधुरता नहीं होती, उसमें भी संसार को भस्म कर देने वाली ज्वाला भरी है!

उस दिन बहुत देर तक उससे बातें होती रहीं। मुझे अपना समझकर उसने अपने प्रेम के सम्बन्ध में भी कुछ मुझसे कहा। वह एक दरिद्र की कन्या के प्यार को हृदय में छिपाये हुए था। उसकी माँ ने उस ग़रीब बालिका से विवाह करने की अनुमति

भी दे दी थी। लड़की के पिता को भी स्वीकार था; किंतु उसने यह कहकर टाल दिया कि अभी मेरे विवाह का समय नहीं आया है। बालिका की अवस्था इस समय सोलह वर्ष की है; अभी तक वह उसकी प्रतीक्षा में बैठी है।

आगे उसने कहा—देखता हूँ, अविवाहिता रहकर वह अपना जीवन काट देगी! मैं सत्य कहता हूँ, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास है। उसमें दैवी शक्ति है। वह सदैव मुझे उत्साहित करती रहती है। वह वीर बाला है। एक दिन उसने कहा था—मरने के लिए ही जन्म हुआ है—सदैव कोई जीवित नहीं रहेगा—फिर मृत्यु से भय क्यों और कैसा? उसकी यह बात मेरे हृदय पर अंकित है, मैं आजन्म इसे न भूलूँगा।

मैं एकाग्र मन से उसकी बातें सुन रहा था।

इस घटना के तीन दिन बाद, उसकी बदली दूसरी जेल में हो गई—वह मुझसे अलग हो गया।

उसके चले जाने पर मेरे लिए जेल सूनी हो गई। जिस दिन उसकी बदली हुई थी, उस दिन चलते समय मेरी ओर देखते हुए उसने कहा था—जेल से छूटने पर एक बार तुमसे भेंट करूँगा। आशा है, तुम मुझे न भूलोगे।

मैंने भी बड़ी सहृदयता से कहा था—तुम भूलने योग्य व्यक्ति नहीं हो।

हथकड़ी-बेड़ियों को खनखनाते हुए—एक बार मुस्कराकर वह मेरी आँखों से ओझल हो गया।

उसके जाने के सातवें दिन बाद, मैं जेल के फाटक के बाहर निकला। कुछ दूर जाकर जेल की ओर उसी तरह देखता जाता, जैसे बन्दूक की आवाज़ सुनकर प्राण के भय से भागता हुआ हिरन कहीं छिपकर अपने शिकारी को देखता जाता है।

छः महीने जेल में काटने के बाद, मुक्त होने की प्रसन्नता से उछलते हुए, दौड़ते हुए, घर आकर देखा, तो ब्रह्मा की सृष्टि ही बदल गई थी। मेरे सामने अंधकार नाचने लगा।

आभूषण और घर का सामान बेचकर मेरी पत्नी ने छः महीने काम चलाया था। मेरे पहुँचने पर घर में भूँजी भाँग भी न थी। बड़े फेर में पड़ा। सरकारी नौकरी भी नहीं कर सकता था। व्यवसाय के लिए पूँजी न थी। देश-सेवक का भेष बनाकर मैं भटकने लगा। कोई बात तक न पूछता।

दो वर्ष तक उलझनों में ही फँसा रहा। देशभक्ति के भाव दिन प्रति दिन शिथिल होते जा रहे थे।

एक दिन—पता नहीं, कौन-सा दिन था—मैं गृहस्थी का कुछ सामान लेने बाजार जा रहा था। मैं बड़ी जल्दी में था। कारण, जाड़े की रात थी। दुकानें आठ बजे ही बंद हो जाती थीं।

मेरी बगल से घूमकर एक आदमी मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। मेरी ओर ध्यान से देखकर उसने कहा—रामनाथ!

उसे पहचानने की चेष्टा करते हुए आश्चर्य से मैंने कहा—अ...म...र...सिंह!

उसने कहा—हाँ।

मैंने कहा—यह कौन-सा विचित्र वेश बनाया है ? तुम्हें तो पहचानना कठिन है !

किंतु तुमने तो पहचान लिया।

मुझे भी भ्रम हो गया था। जेल से कब आये ?

दो महीने हुए। घर गया, तो माँ तड़प-तड़पकर मर गई थी। बूढ़ा बाप पागलखाने भेज दिया गया था। वहाँ जाकर उनसे भेंट की थी। वे मुझे पहचान न सके। मैं चला आया। अब अकेला हूँ। इस बार फाँसी है, गिरफ़्तार होते ही।

यह क्या कह रहे हो ? मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है !

देखो—वह दो-तीन सी० आई० डी० आ रहे हैं। अच्छा, चला।

देखते-देखते वह ग़ायब हो गया। मैं भय से काँप रहा था। उसका चेहरा कितना भयानक हो गया था—ओह !

४

अंधकार था। सुनसान नदी का किनारा साँय-साँय कर रहा था। मैं मानसिक हलचल में व्यस्त घूम रहा था। अपनी तुलना कर रहा था—अमरसिंह से। ओह ! कैसा वीर-हृदय है ! और एक मैं हूँ, जो अपने सुखों की आशा में—गृहस्थी की झंझटों में—पड़ा हुआ मातृभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य भूलता जा रहा हूँ। मन में तूफ़ान आया—यदि अमरसिंह से भेंट हो जाय—मैं फिर

से उसके साथ......वह प्रायः यहीं तो टहलने आता है। उससे भेंट हो जाय, तो क्या ही अच्छी बात हो।

मैं जैसे अमरसिंह को खोजता हुआ उसी अंधकार में घूमने लगा। कुछ देर बाद, एक क्षीण कंठ से सुनाई पड़ा--अमरसिंह !

मैं चौंक उठा। पूछा—कौन ?

उत्तर न मिला। मैंने कहा—डरो मत, मैं मित्र हूँ।...

अब एक रमणी सामने आकर देखने लगी। उसने कहा—मैं बड़ी विपत्ति में हूँ। यदि आपकी अमरसिंह से भेंट हो, तो उन्हें मेरे यहाँ भेज दीजिए।

आपके यहाँ ?—मैंने आश्चर्य से प्रश्न किया—आपका नाम ?

त्रिवेणी। उन्हें आज अवश्य भेज दीजिएगा।

न जाने क्यों, उसकी बोली लड़खड़ा रही थी, और मेरा भी कलेजा धड़क रहा था। 'अच्छा' कहकर मैं कुछ विचार करने लगा। इतने ही में वह स्त्री चली गई।

मैं नदी-तट पर जाकर बैठ गया। चुपचाप उसके प्रवाह को देखने लगा। अस्पष्ट भावनाओं से मेरा मन चिंतित था। अब मैं अधिक प्रतीक्षा न कर घर लौटने की बात सोचने ही लगा था कि मेरे कंधे पर किसी ने हाथ रक्खा

मैंने पूछा—कौन ?

अमर !

तुम्हीं को तो खोज रहा था।

त्रिवेणी के यहाँ भेजने के लिए ?

तुम कैसे जान गये ? मैंने आश्चर्य से पूछा।

अमरसिंह ने एक भयावन हँसी हँसकर कहा—अपने जीवन-मरण के प्रश्न को मैं न जानूँगा, तो कौन जानेगा ?

मैंने कुतूहल से कहा—क्या ?

उसने कहा—रामनाथ, अच्छा हुआ कि घटना-वश तुम स्वयं इस बात से परिचित हो गये, नहीं तो मैं इस विश्वासघात को न कभी किसी से कहता और न इसे कोई जान पाता।

विश्वासघात कैसा ?

जिस पर मेरा विश्वास था, उसी त्रिवेणी का यह कुचक्र है। एक दिन मैंने तुमसे कहा था कि वह वीर-बाला है, मेरी आराध्य देवी है, मेरे हृदय की शक्ति है; फिर जब वही संसार के प्रलोभनों में फँसकर मेरे जीवन का अंत कर देना चाहती है, तब मैं उसके लिए क्यों लोभ करूँ ?

तुम क्या कह रहे हो अमरसिंह ?

एक सच्ची बात।

तब तुम न जाओ।

ऐसा नहीं हो सकता, जाऊँगा और प्राण दूँगा।

नहीं, तुम मातृभूमि के लिए जीओ—

नहीं भाई, मातृभूमि के लिए मरना होता है।

किंतु यहां तुम भूल कर रहे हो।

नहीं, रामनाथ, दिल टूट गया है। अब लुक-छिपकर जीवन की रक्षा करने का समय नहीं है। जाता हूँ।

अमरसिंह को रोकने का मेरा साहस न हुआ। उस अंधकार में जैसे उसकी आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं।

मैं घर लौट आया।

विधाता

'चीनी के खिलौने, पैसे में दो; खेल लो, खिला लो, टूट जायँ तो खा लो—पैसे में दो।'

सुरीली आवाज़ में यह कहता हुआ खिलौनेवाला एक छोटी सी घंटी बजा रहा था।

उसकी आवाज़ सुनते ही त्रिवेणी बोल उठी—

'माँ, पैसा दो, खिलौना लूँगी।'

'आज पैसा नहीं है, बेटी।'

'एक पैसा; माँ, हाथ जोड़ती हूँ।'

'नहीं है। त्रिवेणी, कल ले लेना।'

त्रिवेणी के मुख पर सन्तोष की झलक दिखलाई दी। उसने खिड़की से पुकारकर कहा—'ऐ खिलौनेवाले, आज पैसा नहीं है; कल आना।'

'चुप रह, ऐसी बात भी कहीं कही जाती है ?'—उसकी माँ ने गुनगुनाते हुए कहा।

तीन वर्ष की त्रिवेणी की समझ में न आया। किंतु उसकी माँ अपने जीवन के अभाव का परदा दुनिया के सामने खोलने से हिचकती थी। कारण, ऐसा सूखा विषय केवल लोगों के हँसने के लिए ही होता है।

और सचमुच—वह खिलौने वाला मुस्कराता हुआ, अपनी घंटी बजाकर, चला गया।

× × × ×

संध्या हो चली थी।

लज्जावती रसोईघर में भोजन बना रही थी। दफ़्तर से उसके पति के लौटने का समय था। आज घर में कोई सब्ज़ी न थी, पैसे भी न थे। विजयकृष्ण को सूखा भोजन ही मिलेगा! लज्जा रोटी बना रही थी और त्रिवेणी अपने बाबू जी की प्रतीक्षा में थी।

'माँ, बड़ी भूख लगी है।'—कातर वाणी में त्रिवेणी ने कहा।

बाबू जी को आने दो, उन्हीं के साथ भोजन करना, अब आते ही होंगे।'—लज्जा ने समझाते हुए कहा। कारण, एक ही थाली में त्रिवेणी और विजयकृष्ण साथ बैठकर नित्य भोजन करते थे और उन दोनों के भोजन कर लेने पर उसी थाली में लज्जावती,

टुकड़ों पर जीने वाले अपने पेट की ज्वाला को शांत करती थी। जूठन ही उसका सोहाग था!

लज्जावती ने दीपक जलाया। त्रिवेणी ने आँख बंदकर दीपक को नमस्कार किया; क्योंकि उसकी माता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करना सिखाया था।

द्वार पर खटका हुआ। विजय दिन भर का थका लौटा था। त्रिवेणी ने उछलते हुए कहा—'माँ, बाबू जी आ गये।'

विजय कमरे के कोने में अपना पुराना छाता रखकर खूँटी पर कुरता और टोपी टाँग रहा था।

लज्जा ने पूछा—'महीने का वेतन आज मिला न?'

'नहीं मिला, कल बँटेगा। साहब ने बिल पास कर दिया है।'—हताश स्वर में विजयकृष्ण ने कहा।

लज्जावती चिंतित भाव से थाली परोसने लगी। भोजन करते समय, सूखी रोटी और दाल की कटोरी की ओर देखकर विजय न जाने क्या सोच रहा था। सोचने दो; क्योंकि चिंता ही दरिद्रों का जीवन है और आशा ही उनका प्राण।

× × × ×

किसी तरह दिन कट रहे थे।

रात्रि का समय था। त्रिवेणी सो गई थी, लज्जा बैठी थी।

'देखता हूँ, इस नौकरी का भी कोई ठिकाना नहीं।'

—गम्भीर आकृति बनाते हुए विजयकृष्ण ने कहा—

'क्यों ! क्या कोई नई बात है ?'—लज्जावती ने अपनी झुकी हुई आँखें ऊपर उठाकर, एक बार विजय की ओर देखते हुए, पूछा—

'बड़ा साहब मुझसे खिंचा रहता है। मेरे प्रति उसकी आँखें चढ़ी रहती हैं।'

'किस लिए ?'

'हो सकता है, मेरी निरीहता ही इसका कारण हो।'

लज्जा चुप थी।

'पंद्रह रुपये मासिक पर दिन भर परिश्रम करना पड़ता है। इतने पर भी·······'

'ओह, बड़ा भयानक समय आ गया है !'—लज्जावती ने दुःख की एक लम्बी साँस खींचते हुए कहा।'

'मकानवाले का दो मास का किराया बाकी है, इस बार वह हरगिज़ न मानेगा।'

'किराया न मिलने पर वह बड़ी आफ़त मचावेगा।'—लज्जा ने भयभीत होकर कहा।'

'क्या करूँ ? काश, जान देकर भी इस जीवन से छुटकारा हो पाता !'

'ऐसा सोचना व्यर्थ है। घबराने से क्या लाभ ? कभी दिन फिरेंगे ही।'

'कल रविवार है, छुट्टी का दिन है, एक जगह दूकान पर चिट्ठी-पत्री लिखने का काम है। पाँच रुपये महीना देने को कहता था। घंटे दो घंटे उसका काम करना पड़ेगा। मैं आठ माँगता था। अब सोचता हूँ, कल उससे मिलकर स्वीकार ही कर लूँ। दफ़्तर से लौटने पर उसके यहाँ जाया करूँगा',—कहते हुए विजयकृष्ण के हृदय में उत्साह की एक हल्की रेखा दौड़ गई।

'जैसा ठीक समझो।'––कहकर लज्जा विचार में पड़ गई। वह जानती थी कि विजय का स्वास्थ्य परिश्रम करने से दिन प्रति दिन बिगड़ता जा रहा है।

किंतु प्रश्न था रोटी का!

× × × ×

दिन, सप्ताह और महीने उलझते चले गये।

विजय प्रतिदिन दफ़्तर जाता। वहाँ वह बहुत कम बोलता। उसकी इस नीरसता पर दफ़्तर के कर्मचारी उससे व्यंग्य करते।

उसका पीला चेहरा और धँसी हुई आँखें लोगों को विनोद करने के लिए उकसाती थीं। किंतु वह चुपचाप इन बातों को अनसुनी कर जाता, और कभी उत्तर न देता। इस पर भी सब उससे खिंचे रहते थे।

विजय के जीवन में आज एक अनहोनी घटना हुई। वह कुछ समझ न सका। मार्ग में उसके पैर आगे न पड़ते। उसकी

आँखों के सामने चिनगारियाँ झलमलाने लगीं। मुझसे क्या अपराध हुआ ?— कई बार उसने मन ही में प्रश्न किया।

घर से दफ़्तर जाते समय बिल्ली ने रास्ता काटा था। आगे चलकर खाली घड़ा दिखाई पड़ा था। इसी लिए तो सब अपशकुनों ने मिलकर आज उसके भाग्य का फ़ैसला कर दिया था !

'साहब बड़ा अत्याचारी है। क्या ग़रीबों का पेट काटने के लिए ही पूँजीपतियों का प्रादुर्भाव हुआ है ? नाश हो इनका... वह कौन-सा...दिन होगा, जब रुपयों का अस्तित्व संसार से मिटेगा ? जब भूखा मनुष्य दूसरे के सामने हाथ न फैलावेगा ?' —सोचते हुए विजय का माथा ठनक गया। वह मार्ग में गिरते-गिरते सम्हला।

सहसा उसने आँखें उठाकर देखा, वह अपने घर के सामने आ गया था; बड़ी कठिनाई से घर में घुसा। कमरे में आकर धम से बैठ गया।

लज्जावती ने घबराकर पूछा—'तबीयत कैसी है ?'

'जो कहा था, वही हुआ।'

'क्या हुआ ?'

'नौकरी छूट गई। साहब ने जवाब दे दिया।'—कहते-कहते उसकी आँखें छलछला गईं।

विजय की दशा पर लज्जा को रोना आ गया। उसकी आँखें

बरस पड़ीं। उन दोनों को रोते देखकर त्रिवेणी भी सिसकने लगी।

संध्या की मलिन छाया में तीनों बैठे रोते थे। इसके बाद शांत होकर विजय ने अपनी आँखें पोंछीं; लज्जावती ने अपनी और त्रिवेणी की—

क्योंकि संसार में एक और बड़ी शक्ति है, जो शासन करने वाली इन सब चीज़ों से कहीं ऊँची है—जिसके भरोसे बैठा हुआ मनुष्य आँख फाड़कर अपने भाग्य की रेखा को देखा करता है।

विद्रोही

'मान जाओ, यह कार्य तुम्हारे उपयुक्त न होगा।'

'चुप रहो—तुम क्या जानो।'

'इसमें वीरता नहीं है, अन्याय है।'

'बहुत दिनों से धधकती हुई ज्वाला आज शांत होगी।' —शक्तिसिंह ने, एक लम्बी साँस खींचते हुए, अपनी स्त्री की ओर देखा।

'...'

'...'

'कलंक लगेगा, अपराध होगा।'

'अपमान का बदला लूँगा। प्रताप के गर्व को मिट्टी में मिलाऊँगा। आज मैं विजयी होऊँगा।'—बड़ी दृढ़ता से कहकर

शक्तिसिंह ने शिविर के द्वार से देखा—मुग़ल-सेना के छरेरे सिपाही अपने अपने घोड़ों की परीक्षा ले रहे थे। धूल उड़ रही थी। बड़े साहस से सब एक दूसरे को उत्साहित कर रहे थे।

'निश्चय महाराणा की हार होगी। बाईस हज़ार राजपूतों को मुग़ल-सेना सूखे डंठल की भाँति काटकर गिरा देगी।'—साहस से शक्तिसिंह ने कहा।

'भाई पर क्रोध करके, देशद्रोही बनोगे......'—कहते कहते उस राजपूत-बाला की आँखों से चिनगारियाँ बरसने लगीं।

शक्तिसिंह अपराधी की नाईं विचार करने लगा। जलन का उन्माद उसकी नस-नस में दौड़ रहा था। प्रताप के प्राण लेकर ही छोड़ूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा थी। नादान-दिल किसी तरह न मानेगा। उसे कौन समझा सकता था ?

रणभेरी बजी।

कोलाहल मचा। मुग़ल-सैनिक मैदान में जुटने लगे। पत्ता-पत्ता खड़खड़ा उठा। बिजली की भाँति तलवारें चमक रही थीं। उस दिन सब में उत्साह था। युद्ध के लिए भुजाएँ फड़कने लगीं।

शक्तिसिंह ने घोड़े की लगाम पकड़कर कहा—आज अन्तिम निर्णय है, मरूँगा या मारकर ही लौटूँगा !

शिविर के द्वार पर खड़ी मोहिनी अपने भविष्य की कल्पना कर रही थी। उसने बड़ी गम्भीरता से कहा—ईश्वर सद्‌बुद्धि दे; यही प्रार्थना है।

२

एक महत्त्वपूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी थी। प्रकृति काँप उठी। घोड़ों और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसाती हवा के थपेड़ों से जङ्गल के वृक्ष रण-नाद करते हुए झूमने लगे। पशु-पक्षी भय से त्रस्त होकर आश्रय ढूँढने लगे। बड़ा विकट समय था।

उस भयानक मैदान में राजपूत-सेना मोर्चाबन्दी कर रही थी। हल्दीघाटी की ऊँची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाये उन्मत्त के समान खड़े थे।

'महाराणा की जय!'—शैलमाला से टकराती हुई ध्वनि मुग़ल-सेना में घुस पड़ी। युद्ध आरंभ हुआ। भैरव रणचंडी ने प्रलय का राग छेड़ा। मनुष्य हिंस्र जन्तुओं की भाँति अपने-अपने लक्ष्य पर टूट पड़े। सैनिकों के निडर घोड़े हवा में उड़ने लगे। तलवारें बजने लगीं। पर्वतों के शिखरों से विषैले बाण मुग़ल-सेना पर बरसने लगे। सूखी हल्दीघाटी में रक्त की धारा बह निकली।

महाराणा आगे बढ़े। शत्रुसेना का व्यूह टूटकर तितर-

वितर हो गया। दोनों ओर के सैनिक कट-कटकर गिरने लगे। देखते देखते लाशों के ढेर लग गये।

भूरे बादलों को लेकर आँधी आई। सलीम के सैनिकों को बचने का अवकाश मिला। मुग़लों की सेना में नया उत्साह भर गया। तोप के गोले उथल-पुथल करने लगे। धाँय-धाँय करती बन्दूक से निकली हुई गोलियाँ उड़ रही थीं—ओह! आज जीवन कितना सस्ता हो गया था!

महाराणा शत्रु-सेना में सिंह की भाँति उन्मत्त होकर घूम रहे थे। जान की बाज़ी लगी थी। सब तरफ से घिरे थे। हमले पर हमला हो रहा था। प्राण संकट में पड़े थे। बचना कठिन था। सात बार घायल होने पर भी पैर उखड़े नहीं, मेवाड़ का सौभाग्य इतना दुर्बल नहीं था।

मानसिंह की कुमंत्रणा सिद्ध होने वाली थी। ऐसे आपत्ति-काल में वह वीर सरदार सेना-सहित वहाँ कैसे आ पहुँचा? आश्चर्य से महाराणा ने उसकी ओर देखा—वीर मन्नाजी ने उनके मस्तक से मेवाड़ के राज-चिह्नों को उतार अपने मस्तक पर रख लिया। राणा ने आश्चर्य और क्रोध से पूछा—'यह क्या?'

'आज मरने के समय एक बार राज-चिह्न धारण करने की इच्छा हुई है।'—हँसकर मन्नाजी ने कहा। राणा ने उस उन्माद-पूर्ण हँसी में अटल धैर्य देखा।

मुग़लों की सेना में से शक्तिसिंह इस चातुरी को समझ गया। उसने देखा—घायल प्रताप रण-क्षेत्र से जीते-जागते निकले जा रहे हैं; और, मुग़ल वीर मन्नाजी को प्रताप समझकर उधर ही टूट पड़े हैं।

उसी समय मुग़ल-सरदारों के साथ, महाराणा के पीछे-पीछे शक्तिसिंह ने अपना घोड़ा छोड़ दिया।

३

खेल समाप्त हो रहा था। स्वतंत्रता की बली-वेदी पर सन्नाटा छा गया था। जन्मभूमि के चरणों पर मर-मिटने वाले वीरों ने जीवन का उत्सर्ग कर दिया था। बाईस हज़ार राजपूत वीरों में से केवल आठ हज़ार बचे थे।

विद्रोही शक्तिसिंह चुपचाप सोचता हुआ अपने घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था। मार्ग में कटे शव पड़े थे—कहीं भुजाएँ शरीर से अलग पड़ी थीं, कहीं धड़ कटा हुआ था, कहीं खून से लथपथ मस्तक भूमि पर गिरा हुआ था। कैसा परिवर्त्तन है!—घड़ी भर में हँसते-बोलते और लड़ते-भिड़ते जीवित पुतले कैसे टूट गये? ऐसे अनित्य जीवन पर इतना गर्व!

शक्तिसिंह की आँखें ग्लानि से छलछला पड़ीं।

'ये सब भी राजपूत थे, मेरी ही जाति का खून इनमें था! हाय रे, मैं! मेरा प्रतिशोध पूरा हुआ,—क्या सचमुच पूरा हुआ? नहीं, यह प्रतिशोध नहीं था। अधम शक्ति! यह तेरे चिर-कलङ्क के लिए

पैशाचिक आयोजन था। तू भूला, पागल! तू प्रताप से बदला लेना चाहता था—उस प्रताप से, जो अपनी स्वर्गादपि गरीयसी जननी जन्म-भूमि की मर्यादा बचाने चला था! वही जन्म-भूमि, जिसके अन्नजल से तेरी नसें फूली-फली हैं! अब भी तो माँ की मर्यादा का ध्यान कर!'

सहसा धाँय-धाँय गोलियों का शब्द हुआ। चौंककर शक्तिसिंह ने देखा—दो मुग़ल-सरदार प्रताप का पीछा कर रहे हैं। महाराणा का घोड़ा लथ-पथ होकर झूमता हुआ गिर रहा है। अब भी समय है। शक्तिसिंह के हृदय में भाई की ममता उमड़ पड़ी।

एक आवाज़ हुई—रुको!

दूसरे क्षण शक्तिसिंह की बन्दूक छुटी, पलक मारते दोनों मुग़ल-सरदार जहाँ-के-तहाँ ढेर हो गये। महाराणा ने क्रोध से आँख चढ़ाकर देखा। वे आँखें पूछ रही थीं—क्या मेरे प्राण पाकर तुम निहाल हो जाओगे? इतने राजपूतों के खून से तुम्हारी प्रतिहिंसा न हुई?

किंतु यह क्या, शक्तिसिंह तो महाराणा के सामने नत-मस्तक खड़ा था। वह बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो रहा था। शक्तिसिंह ने कहा—नाथ! सेवक अज्ञान में भूल गया था। आज्ञा हो तो इन चरणों पर अपना शीश चढ़ाकर पद-प्रक्षालन कर लूँ, प्रायश्चित्त कर लूँ!

राणा ने अपनी दोनों बाँहें फैला दीं। दोनों के गले आपस में मिल गये, दोनों की आँखें स्नेह की वर्षा करने लगीं। दोनों के हृदय गद्गद् हो गये।

इस शुभ मुहूर्त पर पहाड़ी वृक्षों ने पुष्प-वर्षा की, नदी की कल-कल धाराओं ने स्तुति-गान किया।

प्रताप ने डबडबाई आँखों से देखा—उनका चिर-सहचर प्यारा 'चेतक' दम तोड़ रहा है। सामने ही शक्तिसिंह का घोड़ा खड़ा था।

शक्तिसिंह ने कहा—भैया! अब विलम्ब न करें, घोड़ा तैयार है।

राणा शक्तिसिंह के घोड़े पर सवार होकर उस दुर्गम मार्ग को पार करते हुए निकल गये।

४

श्रावण का महीना था।

दिन-भर की मार-काट के पश्चात् रात्रि सुन-सान हो गई थी। शिविरों से महिलाओं के रोने की करुण ध्वनि आकर हृदय को दहला रही थी। हजारों सुहागिनियों का सुहाग उजड़ गया था। उन्हें कोई ढाढ़स बँधाने वाला न था; था तो केवल हाहाकार, चीत्कार, कष्टों का अनन्त पारावार!

शक्तिसिंह अभी तक अपने शिविर में न लौटा था। उसकी पत्नी प्रतीक्षा में विकल थी। उसके हृदय में जीवन की आशा-निराशा क्षण-क्षण उठती और गिरती थी।

अँधेरी रात में काले बादल आकाश में छा गये थे। एकाएक उस शिविर में शक्तिसिंह ने प्रवेश किया। पत्नी ने कौतूहल से देखा, उनके कपड़े खून से तर थे।

'प्रिये!'

'नाथ!'

'तुम्हारी मनःकामना पूर्ण हुई—मैं प्रताप के सामने परास्त हो गया!'

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

जीवन-परिचय

वियोगी जी का जन्म संवत् १९५९ में बिहार के प्रसिद्ध स्थान गया में हुआ। आपने हिंदी, संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी आदि में अच्छी प्रवीणता लाभ की है।

इनकी साहित्यिक प्रगति में 'माधुरी' ने बहुत सहायता की। आप कुशल चित्रकार, भावुक कवि तथा प्रवीण कथालेखक हैं। 'निर्माल्य' 'एकतारा' और 'कल्पना' आपकी काव्यरचनाओं के संग्रह हैं और रेखा में आपकी कहानियों का संग्रह है। आप रवींद्र को अपना काव्यगुरु मानते हैं और उन्हीं के पदचिह्नों पर चल हिंदी में नवीनता का संचार कर रहे हैं।

आपकी रचनाएँ कल्पनाप्रधान हैं और अनुभूति की अभिव्यक्ति से युक्त हैं। इन दोनों के साथ मिलकर भावुकता ने सोने में सुगंध बसा दी है।

आपकी भाषा काव्यमय होती है। कहानियों में भी कविता का रस आ जाता है। काव्यमय वर्णन के पश्चात् मुख्य दृश्य उपस्थित किया जाता है, जो भावपूर्ण होने के साथ साथ आकस्मिक सा होने के कारण कहानी को भावमय जगत् में पहुँचा देता है।

आपने हाल ही में 'कला का विवेचन' नामक पुस्तक लिख अपनी व्यापक समालोचनशक्ति का परिचय दिया है।

वे बच्चे.... !

जेठ का महीना था। हरिपुर गाँव से बहुत दूर, ऊसरं और खेतों के उस पार जो पक्की सड़क गई थी, वहाँ दो तीन छोटी छोटी दूकानें दिन में दीख पड़ती थीं। हरिपुर, सहदेवनगर, जैंपुरवा आदि गाँवों को जाने वाले यात्री यहीं 'बस' से उतरते थे और यही कारण था कि यहाँ सत्तू, तम्बाकू, तेल की जलेबियाँ और कचौरियों की दो-तीन दूकानें खुली नज़र आती थीं। दूर-दूर से आकर, अपनी छोटी पूँजी के बल पर जीवन-नैया को पार लगाने की हिम्मत रखने वाले दो-चार देहाती यहाँ दूकान लगाकर बैठा करते थे। मोटर, यहाँ यों भी, प्रायः एक घंटा ठहरती थी और यात्रियों को—दूर जाने वाले ग्रामीण यात्रियों को—कुछ देर ठहरने का अवसर अनायास मिल जाता था।

एक पक्का कुआँ, और बड़-पीपल की छोटी सी छायादार बारी—बस, यही उस स्थान की रौनक़ थी; सजावट थी; सुंदरता थी।

दोपहर को जब आकाश तवा-सा तपता और भूमि भट्ठी-सी भभकती तब इसी बारी में हरिपुर वगैरह गाँवों की ओर जाने वाले यात्री विश्राम करते या बगल के ताड़ीखाने में जाकर दो चार आने में शिमला, दार्जिलिंग, मंसूरी, उटकमंड का आनंद आसानी से उठाते। ताड़ के दो चार पत्तों से छाया हुआ यह ताड़ीखाना अपने भीतर भिनभिनाती हुई मक्खियों से घिरे रहने वाले ताड़ी के बड़े बड़े मटकों को छिपाकर मानो ताड़ी पीने वाले रसिकों का मन बलपूर्वक हरता था। मिट्टी से भली भाँति पुती हुई भूमि पर, टूटे चुक्कड़ों और अधजली बीड़ियों पर, झुंड की झुंड हरी हरी घिनौनी मक्खियाँ भिनभिनाया करती थीं।

इस बाज़ार में हरिपुर के दो बच्चे भी आते थे—तेल की जलेबियाँ और कचौरियाँ बेचने। पहले इनका अभागा बाप आता था, पर जब से वह मर गया, अपने पैतृक व्यवसाय को उसके बच्चों ने सँभाला। एक बच्चा क़रीब बारह साल का था और दूसरा छः साल का—दोनों दुर्बल और रोगी, जैसे नंग-धड़ंग बच्चे आम तौर पर, आधा पेट खाकर जीवन का दुर्वह भार ढोते हुए, देहातों में और गाँव के खेतों में ढोरों के साथ और शहर की गलियों में ईंट-पत्थर चलाते और गालियाँ बकते नज़र आते हैं।

दोनों भाई नित्य दो कोस चलकर आते, और जो कुछ मिलता, ले-देकर घर की ओर चले जाते। लकड़ी के एक चौकोर तख़्ते में कई ख़ाने बने हुए थे; उनमें बाट, तराज़ू, जलेबियाँ, कचौरियाँ आदि सामान रक्खा हुआ होता था। ऊपर से एक

अत्यंत गंदा तेल से भरा हुआ कपड़ा ढका होता, जिससे पुराने जले हुए तेल की दुर्गंध सदा निकलती रहती। यही खोनचा था, जिससे एक परिवार का पालन पोषण होता था। सड़क के किनारे बैठकर दोनों बच्चे अपना सौदा बेचा करते और उससे जो बच जाता, उसे लेकर घर की ओर चल पड़ते। भूखे रहने पर भी कभी कचौरियों या जलेबियों पर हाथ न डालते। घर पर बैठी हुई अपनी माँ का स्नेह-मिश्रित भय इन्हें सदा सीधे पथ पर चलने के लिए बाध्य करता। माता का स्नेह इनके नन्हे-नन्हे हृदयों को ताज़ा रखता, इन्हें मुर्झाने से बचाता और उसका भय इन्हें सदा सतर्क रखता। माँ से दूर रहते हुए भी ये बच्चे यही अनुभव करते कि माँ की दो बड़ी बड़ी स्नेहपूर्ण आँखें इन्हें आकाश में, वृक्षों के झुरमुट में से, धूलि के बवंडर के भीतर से, झमाझम बरसने वाले काले काले बादलों के भीतर से लगातार देख रही हैं—ये गाँव से दूर, स्वतंत्र नहीं हैं, बल्कि सदा अपनी माता की सतर्क आँखों के पहरे के भीतर ही हैं।

दोनों बच्चे अपनी माँ के दिन-रात, इहलोक-परलोक, साहस-कर्तव्य, हँसी-रुदन, सुख-दुख और जीवन और मोह जैसे थे।

२

हाँ, जेठ का महीना था और लू की गर्जना से शून्य भर गया था। जेठ की जलती आँखों के सामने ठहरने का साहस किसे था? प्राणिमात्र छाया की टोह में व्याकुल थे। अग्नि-

स्नान करके, लंका में रोक रक्खी जाने वाली वैदेही की तरह, धरणी शुद्ध हो रही थी। हवा के गरम झोंकों से कच्ची सड़कों की धूलि ववंडर की तरह उड़ती थी। अस्तव्यस्त पंखों वाले पंछी, डालों पर चोंच खोलकर हाँफते, नज़र आते थे। आकाश का रंग मटमैला दिखलाई पड़ता था। जेठ के रूप में अपनी तीनों आँखें खोल मानो प्रलयंकर नटराज नृत्य कर रहे हों।

दिन चढ़ रहा था। एक मोटर लारी आई और कुछ देर ठहरकर चली गई। दो चार यात्री उतरे और सीधे पगडंडी की ओर मुड़कर चलते बने। दूसरी लारी आई। इसमें बरात थी। बराती गाते बजाते जा रहे थे। यह रिज़र्व गाड़ी थी, फिर भी कुछ देर ठहर गई। बच्चों ने कुछ जलेबियाँ और कचौरियाँ बेचीं भी—कुछ सौदा हो गया। दिन और चढ़ा। १० का समय हो गया। लू के थपेड़े ज़ोरदार हो गये—बवंडर का ज़ोर बढ़ा। पड़ाव उजाड़ सा हो गया; दुकानदार दोपहर बिताने के लिए घनी बारी की ओर चले। दोनों बच्चों ने भी घर की ओर जाने की तैयारी की। इनकी माँ इधर कई दिनों से रुग्ण थी। अकेली छोड़ ये संध्या तक कहीं नहीं ठहर सकते थे। माँ ने कहा भी था—'चले आना।'

बड़े बच्चे का नाम, जिसकी आयु १२-१३ साल की थी, जग्गन था; और छोटे बच्चे का, जो क़रीब ५-६ साल का था, सुक्खन। बड़े भाई जग्गन ने गिनकर पैसे और अधेले अच्छी तरह गाँठ में बाँध लिये और चलने की तैयारी की। इनके सहयोगी

दूकानदारों ने इनकी ओर ध्यान भी न दिया। किसी ने मना भी न किया। वहाँ इन ग़रीब बच्चों का अपना कौन बैठा था, जो दया दिखलाता, इन्हें उस तड़पती हुई धूप में जाने से रोकता, उस महाकाल के धधकते हुए खप्पर में कूदने से समझाता? जग्गन ने अपने छोटे भाई के हाथ में एक कचौरी रखकर कहा—'जल्दी चलो। माँ बाट देखती होगी। खाते खाते चलो—अरे, देखते नहीं...दिन चढ़ रहा है।' ललचाई हुई आँखों से अपने हाथ की लाल-लाल फूली हुई कचौरी को देखते हुए सुक्कन ने सम्मतिसूचक सिर हिला दिया, मानो वह अपने भाई से पाँच कदम आगे चलने को तैयार हो। दोनों सड़क से उतरकर खेतों की मेड़ पर हो लिये। जग्गन के सिर पर भारी खोनचा था और सुक्कन अपनी लटपटी धोती को सँभालता, कचौरी खाता पीछे पीछे चल रहा था। न सिर पर छाता, न पैरों में जूते—उस पर जेठ का महीना और दोपहर का रंगमंच पर प्रवेश।

दिगंत तक फैले हुए रेगिस्तानी, उजड़े खेत। कहीं हरियाली का नाम नहीं। हवा में उड़ती हुई धूलि का डरावना बवंडर। सिर पर भास्कर तप रहे थे और पैरों के नीचे जल रही थी वह धरित्री, जिसे 'वंदे मातरम्' गान द्वारा कवि ने 'सुजलां सुफलां, मलयजशीतलां, शस्यश्यामलाम्' आदि कहकर अपने हृदय के पूर्ण आवेग से पुकारा है। वही सजला सुफला उन अनाथ बच्चों के लिए तपते हुए तवे का रूप धारण करके प्रकट हुई।

जग्गन ने दूर दूर तक नज़र दौड़ाकर देखा; न कहीं एक चिड़िया नज़र आई और न हरी पत्ती या दूब ही। श्वेत

मिट्टी वाले खेतों पर दिनकर की प्रखर किरणें चमक रही थीं और हवा के प्रत्येक झोंकों के साथ आग की चिनगारियों की तरह तपी हुई धूलि उड़-उड़कर उनके वस्त्रहीन दुर्बल शरीर को झुलसा रही थी। खेतों का अंत न था और उन्हें अभी काफ़ी दूर जाना था। खेतों के बाद जगदीशपुर की घनी बारी थी, जहाँ 'पनशाला' भी थी। उसके बाद फिर सहदेवनगर का उजाड़ मैदान था। तब कहीं कोशी नदी थी, जिसमें बरसात के बाद एक बूँद जल का दर्शन भी आठवाँ आश्चर्य माना जा सकता है। कोशी नदी के बाद? उफ़! अभी तो हरिहरपुर की कल्पना भी असंभव है। दोनों बच्चे अपनी पूरी ताक़त से जल्दी जल्दी पैर बढ़ाये जा रहे थे। अपने नन्हे नन्हे कदमों से इन्हें जीवन का दिगंतव्यापी रेगिस्तान नापना था!

२

'भैया, प्यास लगी है।'

सुकन ने अपने हाथ की कचौरी समाप्त करके होठों को बड़ी बेकली के साथ चाटते हुए कहा—'भैया, प्यास लगी है।' जग्गन ने इधर उधर नज़र दौड़ाकर देखा। बहुत दूर पर क्षितिज की धुँधली रेखा से सटी हुई कुछ हरियाली सी नज़र आई। अपने बड़े भाई को चुप देखकर फिर सुकन ने रुँधे स्वर में कहा—'भैया, पानी पीऊँगा।' जग्गन ने ऊपरी मन से घुड़ककर कहा—'जल्दी जल्दी चल। पाजी कहीं का। मारूँगा एक तमाचा, जो बदमाशी की। देख सामने बाग़ है। वहीं पानी मिलेगा। जल्दी

चल !' । भड़कती हुई प्यास को सूखे कलेजे में दबाकर मुक्कन अपने भाई के पीछे पीछे दौड़ा । उसके नन्हे नन्हे पैर थक गये । गर्मी और प्यास के मारे चलने की ताब अब उसमें न रह गई । मुँह में थूक का नामोनिशान न था, जिससे कुछ शांति मिलती, कंठ को कुछ तरावट मिलती, हृदय को कुछ जीवन मिलता, फेफड़ों को कुछ आराम मिलता । जग्गन अपने छोटे भाई को धमकाकर पूरी तेज़ी से बढ़ चला । वह चाहता था कि किसी तरह इस मैदान को पार कर जाय । पर ऐसा ज्ञात पड़ता था कि जैसे जैसे ये दोनों बच्चे आगे बढ़ते थे, वैसे ही वैसे सामने— दूर पर— नज़र आने वाली बारी पीछे की ओर खिसकती जाती हो । दुर्भाग्य का मैदान बड़ा लम्बा होता है । बड़े साहसी का काम है, जो इस अनंत मैदान को अपने क़दमों से नाप डाले । इतना साहस उन दोनों अभागे ग़रीब बच्चों में न था । विधाता का विधान किसी का मुँह नहीं जोहता, न वह पक्षपात ही करता है ।

धूलि का एक बवंडर उठा । दोनों बच्चे मानो धूलि की आँधी में घिर गये । क्षण भर के लिए दोनों अकचकाकर खड़े हो गये । जग्गन ने अपने पीछे से एक पतली सी कराहती हुई आवाज़ सुनी—'भैया, पानी...बड़ी प्यास ।'

जग्गन का साहस छूट गया । उसने अपने थके हुए कातर भाई को आगे कर लिया । पुचकारकर जग्गन ने कहा—'चल, चल, सामने बगीचा है । हम वहीं रुक जायँगे, पानी भी मिलेगा और एक कचौरी भी । वह देख सामने ! अब तो हम पहुँच

ही गये। आध कोस और है—आध घंटे का रास्ता। जल्दी चल, नहीं तो कचौरी न मिलेगी।'

सुकन का चेहरा पीला पड़ गया था। वह थरथरा और हाँफ रहा था। खोन्चे को सिर पर रखने के कारण जग्गन का सिर और आधा शरीर एक प्रकार से छाया में था। इन्हें पच्छिम की ओर जाना था। जग्गन ने अपने छोटे भाई को इस बार आगे कर लिया। अपनी छाया में वह उसे ले चला; पर प्यास की ज्वाला संतोष के जल से शांत हो जाय, यह बात असंभव थी। जग्गन चाहता था कि खोनचा रखकर वह अपने भाई को गोद में उठा ले और दौड़ता हुआ बग़ीचे की शीतल छाया में पहुँच जाय। एक मील क्या, अभी उन्हें एक कोस और चलना था। माँ का भय खोन्चा रखने की अनुमति नहीं देता था। वह यह नहीं तय कर सका कि खोन्चा और अनुज—इन दोनों में कौन ग्राह्य और कौन त्याज्य है। वह दोनों ही की रक्षा करना चाहता था। कुछ दूर चलने के बाद सुकन ठोकर खाकर औंधे मुँह गिरा। जग्गन खोन्चा रखकर भाई को उठाने चला। वह अर्ध-मूर्च्छित-सा 'पानी...पानी' करने लगा। इधर जग्गन का तालू भी सूख रहा था। तपे हुए तवे की तरह धूप चमक रही थी और चकाचौंध के मारे इधर-उधर देखना असम्भव था। सुकन जिस स्थान पर गिरा, वहाँ धुनी हुई रुई की तरह धूलि का ढेर था, जिस पर हवा के झकोरे नाच रहे थे!

बड़ी कठिनाई से अपने छोटे भाई को उठाकर जग्गन ने

खोनचा उठाने का प्रयत्न किया। धूप की कड़ी गरमी लगने से पिघलकर खोनचे में से तेल रिसना आरंभ हो गया था। तेल से भीगा हुआ लकड़ी का भारी खोनचा, जिसका रंग काला पड़ गया था, चिकना हो गया था। इधर जग्गन प्यास से और अपने छोटे से गरीब अनुज की व्याकुलता से घबरा उठा। हाथ से खोनचा छूटकर गिर पड़ा और बची-बचाई कचौरियाँ और जलेबियाँ धूलि में बिखर गईं। जग्गन चाहता था कि वह जल्दी जल्दी अपने इस कालपथ को पार कर जाय, पर अब उसे रुकना पड़ा। इधर सुक्कन खड़ा खड़ा काँप रहा था और मुँह खोलकर हाँफ रहा था। जग्गन जल्दी जल्दी कचौरियाँ चुनने लगा। कचौरियाँ गिनी हुई थीं। माँ से पिटने का भय था। दूर दूर छिटककर चली जानेवाली कचौरियों को सँभालकर एकत्र करना, साथ ही कपड़े से उन्हें पोंछते भी जाना एक कठिन काम था। सुक्कन ने बेकली से गिरते हुए कहा—'भैया पानी...पानी...पानी ला दो...भैया...।'

इस बार सुक्कन अचेत सा हो गया। जग्गन ने अपने भाई के सूखे हुए मुँह को अपनी मैली धोती से पोंछकर पुचकारते हुए कहा—'चलो। बस, सामने तो बगीचा है। लो, एक कचौरी खाते चलो।'

जग्गन ने हाथ पकड़कर सुक्कन को उठाना चाहा; पर वह न उठ सका; बल्कि हाथ छोड़ते ही, वहीं पर—तपी ज़मीन और धूलि पर ही, औंधे मुँह लेट गया। अत्यंत क्षीण स्वर में सुक्कन बोला—'पा...नी...पा...नी...'।

जेठ का दोपहर खेतों में दहाड़ रहा था, धूलि उड़ा रहा था, आग बरसा रहा था। सुक्कन खोनचा रखकर हारा-सा बैठ गया। अपने नन्हे से साथी को खींचकर उसने बैठाया, पर वह फिर लुढ़ककर गिर पड़ा। जग्गन ने देखा कि सुक्कन के होंठ काले पड़ गये हैं, हाथ-पैर ऐंठ गये हैं। सुक्कन की ठुड्डी पकड़कर उसने उसके पसीने भरे मुँह को ऊपर उठाया, पर उसका सिर एक ओर लुढ़क गया। जग्गन रो उठा। उसने बड़े प्यार से पुकारा—'सुक्कन, अरे सुक्कन।' एक अत्यंत क्षीण स्वर सुक्कन के सूखे हुए होंठों के भीतर से निकला—'पा...नी'। बस!

जेठ ने धूलि की चादर से दोनों अभागे बच्चों को छिपा लिया।

× × × ×

संध्या।

जेठ की संध्या, तपस्विनी की तरह, अपनी सजावटहीन शोभा के साथ हरिपुर के खेतों के उस पार धीरे धीरे थकी हुई सी उतरी। शेषनाग के फूत्कार की तरह रह-रहकर गरम हवा के हलके हलके झोंके आते जाते थे। चोंच खोले हुए पक्षी वृक्षों पर इक्के-दुक्के दिखलाई पड़ने लगे। आँखें मलते हुए ग्रामवासी अपनी अपनी राममड़ैया के दरवाज़े से झाँकते हुए नज़र आये। मटमैली धूप ऊँचे ऊँचे वृक्षों की चोटियों पर, शव के चेहरे पर पड़ने वाले हलके प्रकाश की तरह चमकने लगी। गाँव की गलियों में दो चार कुत्ते जीभ निकालकर हाँफते हुए भी दिखलाई पड़े।

गाँव के एक छोर पर छोटे से कच्चे घर में एक दुर्बल रोगिणी स्त्री कराहती हुई अपनी टूटी सी खाट से उतरी। इधर उधर देखकर उसने धीरे धीरे बड़बड़ाना आरंभ किया—'अब तक नहीं...आये। कहाँ रह गये...दोनों! उफ़ कितनी पीड़ा है...शरीर टूट रहा है...मौत दे दो......भगवान। खूब...पीटूँगी...सुकना...बड़ा बदमाश...है...पूरा खेलाड़ी...हाँ, कहीं खेल...रहा...होगा। जगना भी... ! मर जायँ ऐसे कपूत...मैं मर रही हूँ...वे...खेल...रहे होंगे,...क्या...परवा है।'

कराहती हुई उस रोगिणी ने चूल्हे में आग डालकर हाँडी चढ़ाई और भात बनाकर खुद दरवाज़े के पास आकर बैठ गई। कुछ देर बैठकर उसने फिर बोलना शुरू किया—'दोनों...भूखे... आवेंगे। जगना...तो बड़ा...हो गया...है...पर सुकना...उफ़ हरे हरे, कितना दर्द...है शरीर में...हाँ, सुकना...आते ही भात खोजेगा ...बना...कर...रख दिया है पर अभी...आये...नहीं...कहाँ गये! हे भगवान...उठा...लो...इस संसार...में; नारायण !...अब सहा नहीं...जाता !'

संध्या ने रात का रूप धारण कर लिया। गाँव के छप्परों में से धूँआ निकलने लगा। शिवराम पांडेय की चौपाल पर झाँझ ढोलक के साथ रामायण की कथा शुरू हो गई। पेड़ों के इधर उधर चिमगादड़ उड़ने लगे। धूलि से भरे हुए आकाश में कुछ इने-गिने तारे टिमटिमाने लगे।

रोगिणी स्त्री व्याकुल होकर किसी के भी पैरों की आहट

पानी तो झट दरवाज़े पर आती। उसके बच्चे आज अभी तक लौटकर नहीं आये। ऐसा तो कभी न हुआ था। पर इसका जवाब कौन दे? क्या ही अच्छा होता यदि हवा बोल सकती, ये तारे बोल सकते, यह पृथिवी बोल सकती और यदि यह आकाश ही बोल सकता। यदि विधाता ने इन्हें गूँगा बनाया था तो दुर्भाग्य के कंठ में तो वाणी दे देते। यदि ऐसा होता तो लाचार मानवजाति का कितना हित होता, कितना उपकार होता, कितनी भलाई होती? जो हो, पर विधाता से बहस नहीं की जा सकती—लाचारी है।

श्री ऋषभचरण जैन

जीवन-परिचय

आप जाति के दिगम्बर जैन हैं। भारत की राजधानी देहली में रहते हैं। बड़े प्रतिष्ठित संपन्न घराने से सम्बन्ध रखते हैं। अभी नवयुवक ही हैं। बड़े उत्साही, हँसमुख और व्यापार-कुशल हैं। साहित्य-मंडल, जिसमें बड़ा उच्चकोटि का हिन्दी साहित्य प्रकाशित हुआ है, उसके संस्थापक आप ही हैं। आजकल आप देहली से ही 'सचित्र दरबार' नामक एक देशी राज्य सम्बन्धी स्वतन्त्र साप्ताहिक भी प्रकाशित कर रहे हैं। आप केवल प्रकाशक ही नहीं, हिन्दी के अच्छे लेखक भी हैं।

'परख' आपकी उत्कृष्ट रचना है।

परख

हम अपनी कहानी भारतीय इतिहास के मुग़लपृष्ठ की उस पंक्ति से आरंभ करेंगे, जब सम्राट् अकबर के विरुद्ध उसके बेटे सलीम ने विद्रोह का झंडा उठाया था। इस विद्रोह में सहयोग देने-वाले अधिकतर हिंदू-राजपूत थे, जो बाप की अपेक्षा बेटे में हिंदू-रक्त का आधिक्य देखते थे।

रतनसिंह नाम का एक नौजवान राजपूत सलीम की सेना में बड़ा अफ़सर था। वह ऐसी वीरता से लड़ता था, और ऐसी लापरवाही से शत्रु-सेना के परे-के-परे साफ़ करता था कि उभय पक्ष के आदमियों के स्वर में—उसका नाम लेते हुए—एक विशेषता पैदा हो जाती थी।

इसी पृष्ठ की दूसरी पंक्ति में सलीम आत्मसमर्पण कर देता है, और उसके पक्षपाती विद्रोहियों को प्राणदंड दिया जाता है।

केवल रतनसिंह का पता नहीं मिलता; जाने उसे आकाश खा गया, या ज़मीन हड़प गई ! अकबरी दस्तखतों से एक हज़ार अशर्फ़ियों का इनाम उसके या उसके सिर के लिए निकला।

२

दिल्ली से एक कोस दूर एक भिखारियों का गाँव है—गाँव न कहकर उसे बीसेक झोपड़ियों का जमघटा कहना ज़्यादा जँचेगा। वहीं एक झोपड़ी में...

एक जवान था—फटे-हाल, गंदे, फटे-पुराने चिथड़े पहने; सिर के बाल अस्त-व्यस्त, रूखे और डरावने; हाथ-पैर आधे नंगे और शरीर के अन्य अवयव मैले, कठोर और रूखे; शरीर और चेहरा भरा हुआ, परंतु परेशान ! उसके नंगे घुटने पर एक बूढ़े का सिर था, जिसके सिर के बाल आधे काले, आधे सफ़ेद, दाढ़ी बेढब बढ़ी हुई, चेहरा उदास, गालों पर झुर्रियाँ और आँखें बंद होने के कारण कोयों पर स्याही फैली हुई। कपड़े बहुत से—परंतु सब बे-तरह गंदे, बदबूदार चिथड़े-चिथड़े और मटमैले। कमज़ोरी और बीमारी के कारण बूढ़ा काँप रहा था और रह-रहकर उसके मुँह से करुणा-जनक चीख निकल जाती थी। जवान बड़ा परेशान और घबराया हुआ था और मन में उस स्थिति का अनुभव कर रहा था, जिसमें मनुष्य की—क्या करूँ ? बुद्धि का नाश हो जाता है।

अचानक बूढ़े के मुँह से निकला—'प्यास......पानी...!'

युवक ने सावधानी से घुटना निकाला और मिट्टी का बर्तन उठाया। परंतु बर्तन ख़ाली था !

बर्तन उठा वह घर से बाहर निकला। सामने ही कुआ था भूख के मारे उसके पैर लड़खड़ा रहे थे, पर हिम्मत ने अभी जवाब नहीं दिया था।

असल में यही रतनसिंह है। विद्रोहियों की धर-पकड़ में यह मौक़ा पाकर भाग निकला था और बाप के साथ किसी अज्ञात स्थान में रहने पर बाध्य हुआ था।

जो कुछ नक़दी पास थी, वह ख़त्म हो गई और अब भीख माँगने की नौबत आ गई। बेटे ने बाप से कहा—'तुम्हें कष्ट न होने दूँगा, मैं स्वयं भीख माँगकर लाऊँगा।'

बाप ने सुझाया—'तुम पहचाने गये, तो पकड़े जाओगे।'

बेटा मजबूर हो गया। बाप भीख माँगकर लाता और दोनों खाते। कई दिन से बाप बीमार है। जो सूखे टुकड़े घर में थे, बेटे ने उनसे बाप को पोसा, पर जब वे भी ख़त्म हो गये तब........

हाँ, अब उसने बाप को पानी पिलाकर ख़ुद भीख माँगने जाना स्थिर किया। तैयार हो गया। तैयारी में हाथी-घोड़े थोड़े ही जुटाने थे। एक फटा कोट पहना, एक सड़ा कपड़ा सिर पर लपेटा, बाप के शरीर को अच्छी तरह ढका और बोला—'दादा, मैं अभी आया।' कहकर चला गया।

बाप ने सुना, टिमटिमाती हुई आँखें खोलकर बेटे की तैयारी देखी, उसके मन में क्या तूफ़ान उठा, वही जाने—पर जब बेटा झोपड़ी का जीर्ण द्वार ढलका रहा था, तब बूढ़े के होठ हिल रहे थे और वह कुछ बोलने की भयंकर कोशिश कर रहा था।

पर बोला नहीं गया।

३

रतनसिंह छिपता-छिपता दिल्ली में घुसा। किसी प्रकार दादा को बचाना होगा—यही उसका इरादा था। वह जो छिपने की कोशिश कर रहा था—वह अपने लिए नहीं—बाप के लिए। बाप के लिए ही वह तलवार छोड़कर जूठन खाने को तैयार हुआ था, और बाप के लिए ही वह अपनी जान का बहुत बड़ा मूल्य आँकने पर विवश हुआ था। बाप के लिए ही वह कायर बनकर भागा था, और बाप के लिए ही—जब तक बाप जीता रहे—उसे किसी प्रकार भी मरना स्वीकार न था। कारण—उसका बाप अंधा था।

पर प्रसंग दिल्ली का है।

हाँ, तो वह दिल्ली के बाज़ारों में फिरने लगा। लंबे लंबे चौड़े शरीर में, लंबी-लंबी तलवारें बग़ल में लटकाये, घोड़ों पर चढ़े राजपूत और मुग़ल-सरदार मस्ती में इधर-उधर घूम रहे थे। ढाके की मलमल का पतला लिबास, और पतले रंगीन कपड़े की ख़ुश-नुमा पगड़ियाँ पहने मुसलमान-हिंदू गृहस्थ अपनी-अपनी राह जा

रहे थे। द्वारों पर शहनाई बज रही थी, ताशे पिट रहे थे, पेड़ों के नीचे हाथी खड़े बच्चों की भीड़ के कौतूहल का विषय बन रहे थे। सारांश—

दिल्ली के शाही बाज़ारों की चेंचें-मेंमें ने और महलों और कोठों की बे-तरतीब कतारों ने एक विचित्र नेत्ररंजक दृश्य उपस्थित कर रक्खा था। रतनसिंह घंटों घूमता रहा और दिल्ली के दृश्य देखता रहा।

अचानक एक अंधे-भिखारी को देखकर उसे बाप की याद आ गई—और भीख देने योग्य आदमियों को उसने टटोलना शुरू किया।

पर आज उसे मालूम हुआ—भीख माँगना कितना मुश्किल है। क्या कहकर माँगे? क्या कहे? कैसे कहे?

एक राह चलते अमीर की तरफ़ बढ़ा—नेत्रों में आशा की जगह भय लिये हुए—पास भी पहुँच गया, पर वाणी बंद! क्या कहे? कैसे कहे? अमीर आगे निकल गया।

कई ऐसे अवसर निकल गये, और तलवरिया रतनसिंह भिक्षा के इस नये 'आर्ट' में फ़ेल हो गया। अचानक वह चौंका।

४

एक चौराहा—और उसके बीच में एक ऊँचा चबूतरा और इस चबूतरे के सामने दर्जनों आदमियों की खमखम भीड़। रतनसिंह ने भीड़ को देखा और मुँह उठाये उधर ही चल पड़ा।

भीड़ का कारण जानने के लिए उसे भीतर घुसना पड़ा और भीतर घुसने के लिए उसे काफ़ी परिश्रम करना पड़ा। तब जाकर उसे कारण मालूम हुआ—और कारण मालूम होने पर क्या हुआ—उसे ठीक ऐसा अनुभव हुआ, जैसे चिलचिलाती धूप में किसी की आँखों पर पट्टी बाँध देने के बाद घोर अंधकार में खोल देने पर उसे होता है। लमहे-भर वह कीला हुआ-सा खड़ा रहा, फिर सँभलकर पीछे हट गया।

यह उसकी गिरफ़्तारी का विज्ञापन था!.

बाहर आया। यह क्या?—अकबर अभी उसे नहीं भूला है? अभी उसकी कौन-सी दुर्दशा होनी शेष है—कारागार—मृत्युदंड!

और उसका बाप?

रतनसिंह का शरीर सिर से पैर तक काँप उठा। और दादा? उनका क्या होगा? भूख—प्यास—कष्ट—तड़प-तड़पकर मृत्यु!

रतनसिंह के सामने वह भयंकर दृश्य बंदूक की गोली की तरह गुज़र गया।

उसने भाग जाने का इरादा किया।............पर ख़ाली हाथ? बिना थोड़ी भीख लिये? दादा तो फिर नहीं बच सकेंगे!

उपाय?

वह एक दीवार के सहारे खड़ा हो गया, मस्तिष्क को संयत किया—और तब? बिजली की तरह एक विचार उसके दिमाग़ में दौड़ गया।

अधिक न सोचा। बस—एक बार भीड़ में घुसकर विज्ञापन पढ़ा।—कोई संदेह नहीं—अकबरी मोहर, रतनसिंह के लिए; उसी का हुलिया!

बस, किसी से पूछकर वह सीधा शाही दरबार की तरफ़ दौड़ा।

५

दरबारे-आम था। अमीर उमरा, प्यादे और पुलीस, फ़ौज और फ़रियादी—सभी उपस्थित थे। बादशाह अकबर अपने आसन पर थे और दरबार की कार्रवाई जारी थी।

अचानक एक द्वारपाल उपस्थित हुआ। दंडवत के बाद उसने निवेदन किया—'जहाँपनाह! एक नौजवान ख़राब-ख़स्ता परेशान भिखारी श्रीमान् की चरण-वंदना का प्रार्थी है।'

आज्ञा मिली। भिखारी उपस्थित किया गया। बिना सलाम किये ही वह उद्दंड भाव से खड़ा हो गया। बोला—'ओ बादशाह, तुमने रतनसिंह को पकड़नेवाले व्यक्ति के लिए एक हज़ार अशर्फ़ियों का पुरस्कार घोषित किया है?'

अकबर भिखारी के इस अनोखे और अनपेक्षित प्रश्न को

सुनकर कुछ ऐसे विस्मित हुए कि भिखारी की बदज़बानी को नज़र-अंदाज़ करके आप-ही-आप उनका सिर हिल गया, और मुँह से हुँकार की हलकी आवाज़ निकल पड़ी।

भिखारी ने कहा—'अगर मैं उसे यहाँ ले आऊँ, तो पुरस्कार मुझे मिलेगा ?'

फिर वैसा ही हुआ—सिर हिलना और हुँकार !

'तो ला, मैं रतनसिंह हूँ, मुझे इनाम दे।' उसने बड़े गँवार-पन से हाथ फैलाया। 'पर देख,' उसने आधे पल के लिए सिल-सिला तोड़कर कहा—'इनाम लेने के बाद मैं कुछ घंटों की छुट्टी चाहूँगा। मेरा अंधा बाप भिखारीपुरे में भूखा और बीमार पड़ा है। उसका उचित प्रबंध करके मैं स्वयं हिरासत में आ जाऊँगा; अपनी बहादुरी की शपथ खाता हूँ; नहीं तो, मेरे साथ सिपाही—'

अकबर सम्हल चुके थे। परिस्थिति और अपनी मर्यादा उनके सामने थी। दरबारी पहले चुप, फिर विस्मित—और तब कानाफूसी।

अकबर ने रतनसिंह की बात पूरी न होने दी और गरजकर कहा—'इस बदलगाम बाग़ी भिखारी को ज़ेर-हिरासत.........'

वाक्य पूरा न हुआ, रतनसिंह पकड़ा गया।

अकबर का दूसरा हुक्म हुआ—'...क़ैदख़ाने में...'

रत्नसिंह ने क्रोध, रोष, दया मिली नज़र बादशाह पर फेंकी और भेड़ की तरह घिघियाकर कहा—'ओ अन्यायी बादशाह!... भिखारीपुर में मेरा बाप...'

एक सिपाही ने उसके मुँह पर हाथ रख दिया।

६

काली रात थी।

जँगले के छड़ क़ैदी के हाथ में थे, और मन उसका भिखारीपुर की झोपड़ी में अपने बाप की मृत्यु देख रहा था। पहरेदार संगीन खींचे द्वार पर घूम रहा था और सन्नाटे से भरी रात 'ज़न्-ज़न्' बोल रही थी।

अचानक क़ैदी ने देखा—अंधकार में से कोई मनुष्यमूर्ति निकलकर पहरेदार की तरफ़ बढ़ी। पहरेदार ने आगंतुक को रोका और आगे बढ़कर उसके पास गया।

क़ैदी ने चौंककर देखा—पहरेदार ने अचानक ज़मीन तक झुककर आगंतुक को मार्ग दे दिया, और फिर आगे आकर कोठरी का द्वार खोल दिया।

क़ैदी ने छड़ छोड़ दिये और दीवार के साथ लगकर दरवाज़ा खुलने की बाट देखने लगा।

दरवाज़ा खुला और सादे कपड़े पहने एक आदमी ने प्रवेश किया। पहरेदार ने मसाल जलाई। क़ैदी ने पहचाना—आगंतुक खुद अकबर था। आश्चर्य!

पहरेदार के हाथ से मसाल लेकर बादशाह ने दीवार में एक जगह खोंस दी और पहरेदार को बाहर जाने का संकेत किया। वह झुकता हुआ चला गया।

बादशाह ने हँसकर कहा—'बहादुर, पहचाना ?'

उसने सिर हिलाया—'हाँ।'

'तुम जानते हो, मैं क्यों आया हूँ ?'

'नहीं।'—सिर हिला।

'तुम्हें आज़ाद करने।'

उसकी आँखें चमकीं।

'और इनाम देने।'

क़ैदी का आश्चर्य बढ़ा।

'यह पत्री; ख़ज़ाने में पेश करते ही एक हज़ार अशर्फ़ियाँ पाओगे,' अकबर ने एक कागज़ क़ैदी के आगे फेंककर कहा—'और यह आज़ादी,' दरवाज़े की तरफ़ इशारा किया—'जाओ!'

रतनसिंह चुप! फिर बोला—'ओ बादशाह, अब मेरा बाप मर चुका होगा। अब मुझे कोई इच्छा नहीं है।'

'तेरा बाप ज़िन्दा है।'

'सच ?'—उसने चमककर पूछा।

'सचमुच! तेरा बाप ज़िंदा और ख़ुशहाल है। जा, आज़ादी और इनाम दोनों बख़्शता हूँ।'

एक दीर्घ निस्तब्धता ! और फिर—'बादशाह, अशर्फ़ियाँ और आज़ादी ख़ैरात हैं। मैं दुश्मन की ख़ैरात न लूँगा।'

बादशाह निरुत्तर।

ठहरकर कहा—'रतनसिंह, अशर्फ़ियाँ तेरी बहादुरी के लिए, और आज़ादी तेरे अंधे बाप के लिए।'

अंधा बाप ! रतनसिंह का मस्तिष्क खौखला उठा। अंधा बाप ! तड़प-तड़पकर मृत्यु !

पर, दुश्मन की ख़ैरात ! दुश्मन की भीख ! दुश्मन का नमक !

भिखारी का बेटा होकर भी वह बहादुर था।

उसके मुँह से निकला—'बादशाह !......तू...दुश्मन... तेरा नमक......

अकबर का उदार हृदय नाच उठा। ऐसा वीर ! ऐसा दृढ़ ! बोला—'तेरे-जैसा दुश्मन तो अभिमानयोग्य है। क्यों न तुझे मित्र बनाकर अपना गर्व द्विगुणित करूँ ? तेरे-जैसा जाँ-निसार बेटा ज़रूर जाँ-निसार सिपाही होगा।'

हाथ फैलाकर अकबर ने रतनसिंह को छाती से लगा लिया।

*　　　*　　　*

कहते हैं, रतनसिंह बढ़ते-बढ़ते अकबर का सिपहसालार बन गया था।

श्री सुदर्शन

जीवन-परिचय

ये पंजाबी हैं। इनका जन्म सन् १८८६ में सियालकोट में हुआ था। बचपन ही से आपकी प्रवृत्ति लिखने की ओर थी। सन् १९१२ में इन्होंने कालेज छोड़ लाहौर के हिंदुस्तान नामक साप्ताहिक पत्र में नौकरी कर ली। इसके बाद इन्होंने कई और पत्रों में काम किया। सन् १९२० से इनकी रुचि हिंदी की ओर हुई।

आपकी कहानियों के संग्रह 'सुदर्शनसुधा', 'तीर्थयात्रा' आदि के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी कहानियों के पात्र साधारण श्रेणी के व्यक्ति होते हैं। इनकी कुछ कहानियों के कथानक राजनीतिक आंदोलन से भी लिये गये हैं। आपने नागरिक जीवन के चित्रण में सफलता प्राप्त की है। आपकी लेखनी के स्पर्श से नगरों की मध्यम श्रेणी के लोग भी किसान और श्रमियों की सौम्यता प्राप्त कर लेते हैं।

भाषा आपकी सरल और चलती हुई है। हाँ, प्रांतीयता की छाप उस पर अवश्य है। प्रारंभिक रचनाओं में संस्कृत का जहाँ तहाँ भद्दा प्रयोग हुआ है।

सुदर्शन जी अथक परिश्रमी तथा प्रतिभाशाली लेखक हैं। आज कल आप कलकत्ते की 'न्यू थियेटर्स कंपनी' के लिए कथानक तैयार करते हैं।

सच का सौदा

विद्यार्थी परीक्षा में फ़ेल होकर रोते हैं, पंडित सर्वदयाल पास होकर रोये। जब तक पढ़ते थे, तब तक कोई चिंता न थी; घी खाते थे, दूध पीते थे, अच्छे अच्छे कपड़े पहनते थे, तड़क भड़क से रहते थे। उनके माता-पिता इस योग्य न थे कि कालेज का ख़र्च सह सकें, परंतु उनके मामा एक ऊँचे पद पर नियुक्त थे। उन्होंने चार वर्ष का ख़र्च देना स्वीकार किया, परंतु यह भी साथ ही कह दिया कि 'देखो, रुपया लहू बहाकर मिलता है। मैं वृद्ध हूँ, जान मारकर चार पैसे कमाता हूँ। लाहौर जा रहे हो, वहाँ पग पग पर उपाधियाँ हैं, कोई चिमट न जाय। व्यसनों से बचकर डिगरी लेने का यत्न करो। यदि मुझे कोई ऐसा-वैसा समाचार मिला, तो ख़र्च भेजना बंद कर दूँगा।' सर्वदयाल ने वृद्ध मामा की बात का पूरा पूरा ध्यान रक्खा, और अपने आचार-विचार से न केवल उनको शिकायत का ही अवसर न दिया बल्कि वे उनकी

आँख की पुतली बन गये। परिणाम यह हुआ कि मामा ने सुशील भतीजे को आवश्यकता से अधिक रुपये भेजने शुरू कर दिये, और लिख दिया कि 'तुम्हारे खान-पान में मुझे कोई आपत्ति नहीं। हाँ, इतना ध्यान रखना कि कोई बात मर्यादा के विरुद्ध न होने पाय। मैं अकेला आदमी, क्या रुपया साथ ले जाऊँगा। तुम मेरे सम्बन्धी हो, यदि किसी योग्य बन जाओ तो इससे अधिक प्रसन्नता की बात क्या होगी ?'। इससे सर्वदयाल का उत्साह बढ़ा। पहले सात पैसे की जुराबें पहनते थे, अब पाँच आने की लेने लगे। पहले मलमल के रुमाल रखते थे, अब एटोनिया के रखने लगे। दिन को पढ़ने और रात को जागने से सिर में कभी कभी पीड़ा होने लगती थी, कारण यह कि दूध के लिए पैसे न थे। परंतु अब, जब मामा ने ख़र्च की डोरी ढीली छोड़ दी, तब घी-दूध दोनों की मात्रा बढ़ गई। इतना होते हुए भी सर्वदयाल उन व्यसनों से बचे रहे, जो शहर के विद्यार्थियों में प्रायः पाये जाते हैं।

इसी प्रकार चार वर्ष बीत गये, और इस बीच में उनके मामा की मृत्यु हो गई। इधर सर्वदयाल बी० ए० की डिगरी लेकर घर को चले। जब तक पढ़ते थे सैकड़ों नौकरियाँ दीखती थीं, परंतु पास हुए तो कोई ठिकाना न दीख पड़ा। पंडित जी घबरा गये। जिस प्रकार यात्री दिन-रात चलकर स्टेशन पर पहुँचे, किंतु उसे गाड़ी में स्थान न मिले, उस समय उसकी जो अवस्था होती है ठीक वही दशा पंडित जी की हुई। उनके पिता पंडित शंकरदत्त पुराने ज़माने के आदमी थे। उनका विचार था कि बेटा अँगरेज़ी

बोलता है, पतलून पहनता है, नेकटाई लगाता है, तार तक पढ़ लेता है, इसे नौकरी न मिलेगी तो और किसे मिलेगी। परंतु जब बहुत दिन गुज़र गये और सर्वदयाल के लिए कोई आजीविका न बनी, तब उनका धीरज छूट गया, जैसे जल का वेग बाँध को तोड़ देता है। पुत्र से बोले—'अब तू कोई नौकरी भी करेगा या नहीं? मिडिल पास लौंडे रुपयों से घर भर देते हैं। एक तू है कि पढ़ते पढ़ते बाल पक गये, परंतु नौकरी का नाम नहीं।'

सर्वदयाल के कलेजे में मानों किसी ने तीर मार दिया। सिर झुकाकर बोले—'नौकरियाँ तो बहुत मिलती हैं, परंतु वेतन थोड़ा देते हैं; इसलिए देख रहा हूँ कि कोई अच्छा अवसर हाथ आ जाय तो करूँ।'

शंकरदत्त ने उत्तर दिया—'यह तो ठीक है, परंतु जब तक अच्छी न मिले, मामूली ही कर लो। फिर जब अच्छी मिले, इसे छोड़ देना। तुम आप पढ़े लिखे हो, सोचो, निकम्मा बैठ रहने से कोई कुछ दे थोड़े ही जाता है।'

सर्वदयाल चुप हो गये, उत्तर न दे सके। शंकरदत्त पूजा-पाठ करने वाले आदमी इस बात को क्या समझें, कि ग्रैजुएट साधारण नौकरी नहीं कर सकता।

२

दोपहर का समय था। सर्वदयाल ट्रिब्यून का 'वांटेड' कालम देख रहे थे। एकाएक एक विज्ञापन देखकर उनका हृदय धड़कने लगा।

अम्बाले के प्रसिद्ध रईस रायबहादुर हनुमन्तरायसिंह एक मासिक पत्र 'रफ़ीक-हिन्द' के नाम से निकालने वाले थे। उसके लिए उन्हें एक सम्पादक की आवश्यकता थी, जो उच्च श्रेणी का शिक्षित और नवयुवक हो, लिखने में अच्छा अभ्यास रखता हो, और जातीय-सेवा का प्रेमी हो। वेतन पाँच सौ रुपये मासिक। पंडित सर्वदयाल बैठे थे, खड़े हो गये और सोचने लगे—'यदि यह नौकरी मिल जाय तो दारिद्र्य कट जाय। मैं हर प्रकार से इसके योग्य हूँ।' जब पढ़ते थे, उन दिनों साहित्य-परिषद् में उनकी प्रभावशाली वक्तृताओं और लेखों की धूम थी। बोलते समय उनके मुख से फूल बिखरते थे और श्रोताओं के मस्तिष्क को अपनी सूक्तियों से सुवासित कर देते थे। उनके मित्र उनको गोद में उठा लेते और कहते—'तेरी वाणी में मोहिनी है।' इसके सिवाय उनके लेख बड़े बड़े प्रसिद्ध पत्रों में निकलते रहे। पंडित सर्वदयाल ने कई बार इस शौक़ को कोसा था; आज पता लगा कि संसार में इस दुर्लभ पदार्थ का भी कोई ग्राहक है। कम्पित कर से प्रार्थना-पत्र लिखा और रजिस्टरी करा दिया। परंतु पीछे सोचा—व्यर्थ ख़र्च किया। मैं साधारण ग्रैजुएट हूँ, मुझे कौन पूछेगा? पाँच सौ रुपये वेतन है, सैकड़ों प्रार्थी होंगे और एक से एक बढ़कर। कई वकील और बैरिस्टर जाने को तैयार होंगे। मैंने बड़ी मूर्खता की, जो पाँच सौ रुपये देखकर रीझ गया, जिस प्रकार अबोध बालक चन्द्रमा को देखकर हाथ पसार देता है।' परंतु फिर विचार आया—'जो इस नौकरी को पायेगा, वह भी तो मनुष्य ही होगा। योग्यता सब में प्रायः एक ही सी होती है। हाँ,

जब तक कार्य में हाथ न डाला जाय, तब तक मनुष्य झिझकता है। परंतु काम का उत्तरदायित्व सब कुछ सिखा देता है।' इन्हीं विचारों में कुछ दिन बीत गये। कभी आशा-कल्पनाओं की झड़ी बँध जाती थी, कभी निराशा हृदय में अंधकार भर देती थी। सर्वदयाल चाहते थे कि इस विचार को मस्तिष्क से बाहर निकाल दें और किसी दूसरी ओर ध्यान दें, किंतु वे ऐसा न कर सके। स्वप्न में भी यही विचार सताने लगे। पंद्रह दिन बीत गये, परंतु कोई उत्तर न आया।

निराशा ने कहा—चैन से बैठो, अब कोई आशा नहीं। परंतु आशा बोली—अभी से निराशा का क्या कारण? पाँच सौ रुपये की नौकरी है, सैकड़ों प्रार्थना-पत्र गये होंगे। उनको देखने के लिए भी कुछ समय चाहिए। सर्वदयाल ने निश्चय किया कि अभी एक अठवाड़ा और देखना चाहिए। उनको न खाने की चिन्ता थी, न पीने की चाह। दरवाज़े पर खड़े डाकिये की बाट देखा करते। उसे आने में देर हो जाती तो टहलते टहलते बाज़ार तक चले जाते। परंतु अपनी इस अवस्था को डाकिये पर प्रकट न करते, और पास पहुँचकर देखते देखते गुज़र जाते। फिर मुड़कर देखने लगते—कहीं डाकिया बुला तो नहीं रहा। फिर सोचते—कौन जाने, उसने देखा भी है या नहीं। इस विचार से ढाढ़स बँध जाता, तुरंत चक्कर काटकर डाकिये से पहले दरवाज़े पर जा पहुँचते, और बे-परवाह से होकर पूछते—'कहो भाई, हमारा भी कोई पत्र है या नहीं?' डाकिया सिर हिलाता और आगे चला जाता। सर्वदयाल हताश होकर बैठ जाते। यह उनका नित्य का नियम हो गया था।

जब तीसरा अठवाड़ा भी बीत गया, और कोई उत्तर न आया तब सर्वदयाल निराश हो गये, और समझ गये कि यह मेरी भूल थी। ऐसी जगह सिफारिश से मिलती है; खाली डिगरियों को कौन पूछता है ? इतने ही में तार के चपरासी ने पुकारा। सर्वदयाल का दिल उछलने लगा। जीवन के भविष्य में आशा की ललित लता लहलहाती दिखाई दी। लपके लपके दरवाज़े पर गये, और तार देखकर उछल पड़े। लिखा था—'स्वीकार है, आ जाओ।'

३

सायंकाल को गाड़ी में बैठे तो हृदय आनंद से गद्गद हो रहा था और मन में सैकड़ों विचार उठ रहे थे। संपादकत्व उनके लिए जातीय सेवा का उपयुक्त साधन था। सोचते थे—'यह मेरा सौभाग्य है, जो ऐसा सुअवसर मिला। जो कहीं क्लर्क भर्ती हो जाता, तो जीवन काटना दूभर हो जाता।' वेग से काग़ज़ और पेन्सल निकालकर पत्र की व्यवस्था ठीक करने लगे। पहले पृष्ठ पर क्या हो, दूसरे पर क्या हो, सम्पादकीय वक्तव्य कहाँ दिये जायँ, सार और सूचना के लिए कौन-सा स्थान उपयुक्त होगा, 'टाईटल' का स्वरूप कैसा हो, सम्पादक का नाम कहाँ रहे, इन सब बातों को सोच-सोचकर लिखते गये। एकाएक विचार आया,—कविता के लिए कोई स्थान न रक्खा; और कविता ही एक ऐसी वस्तु है, जिससे पत्र की शोभा बढ़ती है। जिस प्रकार भोजन के साथ चटनी एक विशेष स्वाद देती है, उसी प्रकार विद्वत्तापूर्ण लेख और गम्भीर विचारों के साथ कविता एक आवश्यक वस्तु है।

उसे लोग रुचि से पढ़ते हैं। उस समय उन्हें अपने कई सुहृद् मित्र याद आ गये, जो उस पत्र को बिना पढ़े फेंक देते थे जिसमें कविता व पद्य न हों। सर्वदयाल को निश्चय हो गया कि इसके बिना पत्र को सफलता न होगी। सहसा एक मनोरञ्जक विचार से वे चिहुक उठे। रात्रि का समय था, गाड़ी पूरे वेग से चली जा रही थी। सर्वदयाल जिस कमरे में यात्रा कर रहे थे, उसमें उनके अतिरिक्त एक यात्री और था, जो अपनी जगह पड़ा सो रहा था। सर्वदयाल बैठे थे, खड़े हो गये और पत्र पर तैयार किये हुए नोट को गद्दे पर रखकर इधर-उधर टहलने लगे। फिर बैठकर काग़ज़ पर सुंदर अक्षरों में लिखा :—

पंडित सर्वदयाल बी० ए०, एडीटर रफ़ीक़-हिन्द, अम्बाला।

परंतु लिखते समय हाथ काँप रहे थे, मानो कोई अपराध कर रहे हों। यद्यपि कोई देखने वाला पास न था तथापि उस काग़ज़ के टुकड़े को, जिससे ओछापन और बालकपन झलकता था, बार बार छिपाने का यत्न करते थे; जिस प्रकार अनजान बालक अपनी छाया से डर जाता हो। परंतु धीरे धीरे भय का यह भाव दूर हो गया, और वे स्वाद ले-लेकर उस पंक्ति को बारम्बार पढ़ने लगे।

पंडित सर्वदयाल बी० ए०, एडीटर रफ़ीक़-हिन्द, अम्बाला।

वे सम्पादकत्व के स्वप्न देखा करते थे। अब राम राम करके आशा की हरी भरी भूमि सामने आई, तो उनके कर्ण-कुहर में

वही शब्द गूँजने लगे जो उस काग़ज़ के टुकड़े पर लिखे थे :—

पंडित सर्वदयाल बी० ए०, एडीटर रफ़ीक़-हिन्द, अम्बाला।

देर तक इसी धुन और आनन्द में मग्न रहने के पश्चात् पता नहीं कितने बजे उन्हें नींद आई, परंतु आँख खुलीं तो दिन चढ़ चुका था, और गाड़ी अम्बाला स्टेशन पर पहुँच चुकी थी। जागकर पहली वस्तु जिसका उन्हें ध्यान आया वही काग़ज़ का टुकड़ा था, पर अब उसका कहीं पता न था। सर्वदयाल का रंग उड़ गया, आँख उठाकर देखा तो सामने का यात्री जा चुका था। सर्वदयाल की छाती में किसी ने मुक्का मारा, मानो उनकी कोई आवश्यक वस्तु खो गई हो। ख़याल आया 'यह यात्री कहीं ठाकुर हनुमंतरायसिंह न हो। यदि वही हुआ और उसने मेरा ओछापन देख लिया तो क्या कहेगा ?'

इतने में गाड़ी ठहर गई। सर्वदयाल बेग लिये नीचे उतरे और स्टेशन से बाहर निकले। इतने में एक नवयुवक ने पास आकर पूछा—'क्या आप रावलपिंडी से आ रहे हैं।'

'हाँ, मैं वहीं से आ रहा हूँ। तुम किसे पूछते हो ?'

'ठाकुर साहब ने बग्घी भेजी है।' सर्वदयाल का हृदय कमल की नाईं खिल गया। आज तक कभी बग्घी में न बैठे थे, उचककर सवार हो गये और इधर उधर देखने लगे। बग्घी चली और एक आलीशान कोठी के अहाते में जाकर रुक गई। सर्वदयाल का हृदय धड़कने लगा। कोचवान ने दरवाज़ा खोला और वह आदर

में एक तरफ़ खड़ा हो गया। सर्वदयाल रुमाल से मुँह पोंछते हुए नीचे उतरे और बोले—'ठाकुर साहब किधर होंगे ?'

कोचवान ने उत्तर में एक मुंशी को बुलाया और कहा—'बाबू साहब रावलपिंडी से आते हैं। ठाकुर साहब के पास ले जाओ।'

रफ़ीक-हिन्द के ख़र्च का ब्योरा इसी मुंशी ने तैयार किया था। इसलिए वह तुरंत समझ गया कि यह पंडित सर्वदयाल हैं, जो रफ़ीक-हिन्द की सम्पादकी के लिए चुने गये हैं। आदर से बोला—'आइए, पधारिए !'

पंडित सर्वदयाल मुंशी के पीछे पीछे हो लिये। मुंशी एक कमरे के आगे रुक गया और रेशमी पर्दा उठाकर बोला—'चलिए, ठाकुर साहब बैठे हैं।'

४

सर्वदयाल का सिर घूमने लगा। जो अवस्था निर्बल विद्यार्थी की परीक्षा के अवसर पर होती है, वही अवस्था आज सर्वदयाल की थी। सोचा कि ठाकुर साहब मेरे विषय में जो सम्मति रखते हैं, वह मेरी बात-चीत से बदल न जाय। तथापि साहस करके अंदर चले गये। ठाकुर हनुमंतरायसिंह तीस-बत्तीस वर्ष के सुंदर नवयुवक थे, मुस्कराते हुए आगे बढ़े और बड़े आदर से सर्वदयाल से हाथ मिलाकर बोले—'आप आ गये। कहिए, राह में कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?'

सर्वदयाल ने धड़कते हृदय से उत्तर दिया—'जी, नहीं।'

'मैं आपके लेख बहुत समय से देख रहा हूँ। ईश्वर की बड़ी कृपा है, जो आज दर्शन हो गये। निस्सन्देह, आपकी लेखनी में आश्चर्यमयी शक्ति है।'

सर्वदयाल पानी पानी हो गये। अपनी प्रशंसा सुनकर उनके हर्ष का पारावार न रहा। तो भी सँभलकर बोले—'यह आपकी गुणज्ञता है।'

ठाकुर साहब ने गम्भीरता से कहा—'यह नम्रता तो आपकी योग्यता के अनुकूल ही है। परंतु मेरी सम्मति में आप-सरीखा लेखक पंजाब भर में नहीं। आप मानो या न मानो, समाज को आप पर सचा गर्व है। 'रफ़ीक-हिन्द' का सौभाग्य है कि उसे आप-सा सम्पादक प्राप्त हुआ।'

सर्वदयाल के हृदय में जो आशंका हो रही थी, वह दूर हो गई; समझे कि मैदान मार लिया। बात का रुख बदलने को बोले—'पत्रिका कब से निकलेगी?'

ठाकुर साहब ने हँसकर उत्तर दिया—'यह प्रश्न तो मुझे आपसे करना चाहिए था।'

उस दिन १५ फरवरी थी। सर्वदयाल कुछ देर सोचकर बोले—'पहला अंक पहली एप्रिल को निकल जाय?'

'अच्छी बात है, परंतु इतने थोड़े समय में लेख मिल जायँगे या नहीं, इस बात का विचार कर लीजिएगा।'

'इसकी चिंता न कीजिए, मैं आज ही से काम आरम्भ किये देता हूँ। परमात्मा ने चाहा तो आप पहले ही अंक को देखकर प्रसन्न हो जायँगे।'

एकाएक ठाकुर साहब चिहुककर बोले—'कदाचित् यह सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि इस विज्ञापन के उत्तर में लगभग दो हज़ार प्रार्थना-पत्र आये थे। उनमें से बहुत से ऐसे हैं, जो साहित्य और लालित्य के मोतियों से भरे हुए थे, परंतु आपका पत्र सचाई से भरपूर है। किसी ने लिखा था—मैं इस समय दुकान करता हूँ और चार-पाँच सौ रुपये मासिक पैदा कर लेता हूँ। परंतु जातीय-सेवा के लिए यह सब छोड़ने को तैयार हूँ। किसी ने लिखा था—मेरे पास खाने-पीने की कमी नहीं, परंतु स्वदेश-प्रेम हृदय में उत्साह उत्पन्न कर रहा है। किसी ने लिखा था—मैं बैरिस्टरी के लिए विलायत जाने की तैयारियाँ कर रहा हूँ, परंतु यदि आप यह काम मुझे दे सकें, तो इस विचार को छोड़ा जा सकता है। अर्थात् प्रत्येक प्रार्थना-पत्र से यही प्रकट होता था, कि प्रार्थी को वेतन की तो आवश्यकता नहीं, और कदाचित् वह नौकरी करना अपमान भी समझता है परंतु यह सब कुछ देश-प्रेम के हेतु सहने को उद्यत है। मानो यह नौकरी करके मुझ पर कोई उपकार कर रहा है। केवल आपका पत्र है, जिसमें सत्य से काम लिया गया है, और यह वह गुण है, जिसके सामने मैं सब कुछ तुच्छ समझता हूँ।'

५

एप्रिल की पहली तारीख़ को रफ़ीक-हिन्द का प्रथम अङ्क निकला तो पंजाब के पढ़े लिखे लोगों में धूम मच गई, और पंडित सर्वदयाल के नाम की जहाँ तहाँ चर्चा होने लगी। उनके लेख लोगों ने पहले भी पढ़े थे, परंतु रफ़ीक-हिन्द के प्रथम अङ्क ने तो उनको देश के प्रथम श्रेणी के सम्पादकों की पंक्ति में ला बिठाया। पत्र क्या था, सुंदर और सुगंधित फूलों का गुच्छा था, जिसकी एक एक कुसुम-कलिका चटक-चटककर अपनी मोहिनी वासना से पाठकों के मन को मुग्ध कर रही थी। एक समाचार-पत्र ने समालोचना करते हुए लिखा :—

'रफ़ीक-हिन्द का प्रथम अङ्क प्रकाशित हो गया है, और ऐसी शान से कि देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। पंडित सर्वदयाल को इस समय तक हम केवल एक लेखक ही जानते थे परंतु अब जान पड़ा कि पत्र-सम्पादन के काम में भी इनकी योग्यता पराकाष्ठा को पहुँची हुई है। अच्छे लेख लिख लेना और बात है और अच्छे लेख प्राप्त करके उन्हें ऐसे क्रम और ऐसी विधि से रखना कि वे किसी की दृष्टि में खटकने न पायें, और बात है। पंडित सर्वदयाल की प्रभावशाली लेखनी में किसी को सन्देह न था, परंतु रफ़ीक-हिन्द ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि आप सम्पादक के काम में भी पूर्णतया योग्य हैं। हमारी सम्मति में रफ़ीक-हिन्द से वंचित रहना जातीय भाव से अथवा साहित्य व सदाचार के भाव से दुर्भाग्य ही नहीं, किंतु महान् अपराध है।'

एक और पत्र की सम्मति थी—'यदि उर्दू-भाषा में कोई ऐसी मासिक-पत्रिका है, जिसे यूरोप और अमेरिका के पत्रों के सामने रक्खा जा सकता है तो वह रफ़ीक-हिन्द है, जो सब प्रकार के गुणों से सुसज्जित है। उसके गुणों को परखने के लिए उसे एक बार देख लेना ही पर्याप्त है। निस्सन्देह, पंडित सर्वदयाल ने उर्दू-साहित्य का सिर ऊँचा कर दिया है।'

ठाकुर हनुमन्तराय ने ये समालोचनाएँ देखीं तो आनन्द से उछल पड़े। वे मोटर में बैठकर रफ़ीक-हिन्द के कार्यालय में गये, और पंडित सर्वदयाल को बधाई देकर बोले—'मुझे यह आशा न थी कि हमें इतनी सफलता हो सकेगी।'

पं० सर्वदयाल ने उत्तर दिया—'मेरे विचार में यह कोई बड़ी सफलता नहीं।'

ठाकुर साहब ने कहा—'आप कहते रहें, किंतु स्मरण रखिए वह दिन दूर नहीं जब अख़बारी दुनिया आपको पंजाब का शिरोमणि स्वीकार करेगी।'

६

इसी प्रकार एक वर्ष बीत गया; रफ़ीक-हिन्द की कीर्त्ति देश भर में फैल गई, और पंडित सर्वदयाल की गिनती बड़े आदमियों में होने लगी। कंगाली के दिन बीत चुके थे, अब ऐश्वर्य और ख्याति का युग था। उन्हें जीवन एक आनंदमय यात्रा प्रतीत होती थी, जो फूलों की छाया में तय हो रही हो, और जिसे आम्र-

पल्लवों में बैठकर गानेवाली श्यामा और कली कली का रस चूसनेवाला भौंरा भी तृषित नेत्रों से देखता हो, कि इतने में भाग्य ने पाँसा पलट दिया।

अम्बाला की म्यूनिसिपेलिटी के मेम्बर चुनने का समय समीप आया। ठाकुर हनुमंतसिंह भी एक पक्ष की ओर से मेम्बरी के लिए प्रयत्न करने लगे। धनाढ्य पुरुष थे, रुपया-पैसा पानी की नाईं बहाने को उद्यत हो गये। उनके मुक़ाबले में लाला हशमतराय खड़े हुए। हाई स्कूल के हेडमास्टर, वेतन थोड़ा लेते थे, कपड़े साधारण पहनते थे, कोठी में नहीं, किंतु नगर की एक गली में उनका आवास था, परंतु जाति की सेवा के लिए हर समय उद्यत रहते थे। उनसे पंडित सर्वदयाल की बड़ी मित्रता थी। उनकी इच्छा न थी कि इस झंझट में पड़ें, किंतु सुहृद् मित्रों ने ज़ोर देकर उन्हें खड़ा कर दिया। पंडित सर्वदयाल ने सहायता का वचन दिया।

ठाकुर हनुमंतरायसिंह जातीय सेवा के अभिलाषी तो थे, परंतु उनके वचन और कर्म में बड़ा अंतर था। उनकी जातीय सेवा व्याख्यान झाड़ने, लेख लिखने, और प्रस्ताव पास कर देने तक ही सीमित थी। इससे परे जाना वे अनावश्यक ही न समझते थे, बल्कि स्वार्थ-सिद्ध होता हो तो, अपने वचन के विरुद्ध कार्य करने से भी न झिझकते थे। इस बात से पंडित सर्वदयाल भली भाँति परिचित थे। इसलिए उन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया, कि परिणाम चाहे कैसा ही क्यों न हो, ठाकुर साहब को

मेम्बर न बनने दूँगा। इस पद के लिए वे लाला हशमतराय को अधिक उपयुक्त समझते थे।

रविवार का दिन था। पंडित सर्वदयाल की वक्तृता सुनने के लिए सहस्रों लोग एकत्र हो रहे थे। विज्ञापन में व्याख्यान का विषय 'म्यूनिसिपल इलेक्शन' था। पंडित सर्वदयाल क्या कहते हैं, यह जानने के लिए लोग अधीर हो रहे थे। लोगों की आँखें इस ताक में थीं कि देखें पंडित जी सत्य को अपनाते हैं या झूठ की ओर झुकते हैं? न्याय का पक्ष लेते हैं या रुपये-पैसे का। इतने में पंडित जी प्लेटफ़ार्म पर आये। हाथों ने तालियों से स्वागत किया। कान प्लेटफ़ार्म की ओर लगकर सुनने लगे। पंडित जी ने कहा :—

'मैं यह नहीं कहता कि आप अमुक मनुष्य को अपना वोट दें, किंतु इतना अवश्य कहता हूँ कि जो कुछ करें, समझ-सोचकर करें। यह कोई साधारण बात नहीं कि आप बेपरवाई से काम लें, और चाय की प्यालियों पर, बिस्कुट की तश्तरियों पर और ताँगे की सैर पर वोट दे दें; अथवा जाति-बिरादरी व साहूकारे के ठाठ-बाट पर लट्टू हो जायँ। इस वोट का अधिकारी वह मनुष्य है, जिसके हृदय में करुणा हो; देश और जाति की सहानुभूति हो; जो जाति के साधारण और छोटे लोगों में घूमता हो; जो जाति को ऊँचा उठाने में दिन-रात मग्न रहता हो; जो प्लेग और विषूचिका के दिनों में रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करता हो और अकाल के समय कंगालों को सांत्वना देता हो; जो सच्चे अर्थों में

देश का हितैषी हो और लोगों के हार्दिक विचारों को स्पष्टतया प्रकट करने और उनके समर्थन करने में निर्भय और पक्षपात रहित हो। ऐसा मनुष्य निर्धन होने पर भी चुनाव का अधिकारी है, क्योंकि यही भाव उसके भविष्य में उपयोगी सिद्ध होने में प्रमाण हैं।'

ठाकुर हनुमन्तरायसिंह को पूरा पूरा विश्वास था कि पंडित जी उनके पक्ष में बोलेंगे, परंतु व्याख्यान सुनकर उनके तन में आग लग गई। कुछ मनुष्य ऐसे भी थे, जो पंडित जी की लोकप्रियता देखकर उनसे जलते थे। उनको मौक़ा मिल गया; ठाकुर साहब के पास जाकर बोले—'क्या बात है? यह आपका अन्न खाकर आप ही के विरुद्ध बोलने लग गया।'

ठाकुर साहब ने उत्तर दिया—'मैंने उसके साथ कोई बुरा व्यवहार नहीं किया; न जाने उसके मन में क्या समाई है।'

एक आदमी ने कहा—'कुछ घमण्डी है।'

ठाकुर साहब ने जोश में आकर कहा—'मैं उसका घमण्ड तोड़ दूँगा।' कुछ देर पीछे पंडित सर्वदयाल बुलाये गये। वे इसके लिए पहले ही से उद्यत थे। उनके आने पर ठाकुर साहब ने कहा—'क्यों पंडित साहब! मैंने क्या अपराध किया है?'

पंडित सर्वदयाल का हृदय धड़कने लगा, परंतु साहस से बोले—'मैंने कब कहा है कि आपने कोई अपराध किया है।'

'तो इस वक्तृता का क्या तात्पर्य था?'

'यह प्रश्न सिद्धान्त का है।'

'तो मेरे विरुद्ध व्याख्यान देंगे आप ?'

पंडित सर्वदयाल ने भूमि की ओर देखते हुए उत्तर दिया—'मैं आपकी अपेक्षा लाला हशमतराय को मेम्बरी के लिए अधिक उपयुक्त समझता हूँ।'

'यह सौदा आपको बहुत महँगा पड़ेगा।'

पंडित सर्वदयाल ने सिर ऊँचा उठाकर उत्तर दिया—'मैं इसके लिए सब कुछ देने को तैयार हूँ।'

ठाकुर साहब इस साहस को देखकर दंग रह गये और बोले—'नौकरी और प्रतिष्ठा दोनों ?'

'हाँ, नौकरी और प्रतिष्ठा दोनों।'

'उस तुच्छ, उद्धत, कल के छोकरे हशमतराय के लिए ?'

'नहीं, सचाई के लिए।'

ठाकुर साहब को खयाल न था कि बात इतनी बढ़ जायगी; न ही उनका यह विचार था कि इस विषय को इतनी दूर ले जायँ। परंतु जब बात बढ़ गई, तो पीछे न हट सके, गर्जकर बोले—'यह सचाई यहाँ न निभेगी।'

पंडित सर्वदयाल को कदाचित् कोमल शब्दों में कहा जाता तो सम्भव है, वे हठ को छोड़ देते। परंतु इस अनुचित दबाव को वे न

सह सके। धमकी के उत्तर में उन्होंने ऐंठकर कहा—'ऐसी निभेगी कि आप देखेंगे।'

'क्या कर लोगे? क्या तुम समझते हो, कि तुम्हारी इन वक्तृताओं से मैं मेम्बर न बन सकूँगा?'

'नहीं। यह बात तो नहीं समझता।'

'तो फिर तुम अकड़ते किस बात पर हो?'

'यह मेरा कर्त्तव्य है। उसे पूरा करना मेरा काम है। फल परमेश्वर के हाथ में है।'

ठाकुर साहब ने मुँह मोड़ लिया। पंडित सर्वदयाल ताँगे में जा बैठे और कोचवान से बोले—'चलो।'

इसके दूसरे दिन पंडित सर्वदयाल ने त्यागपत्र भेज दिया।

संसार की गति विचित्र है। जिस सचाई ने उन्हें एक दिन सुख-संपत्ति के दिन दिखाये थे, उसी सचाई के कारण उन्हें नौकरी से जवाब मिला। नौकरी करते समय पंडित सर्वदयाल प्रसन्न हुए थे, छोड़ते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुए।

जब लाला हशमतराय ने यह समाचार सुना तो अवाक् रह गये। वह भागे भागे पंडित सर्वदयाल के पास जाकर बोले—'भाई, मैंने मेम्बरी छोड़ी। तुम अपना त्यागपत्र लौटा लो।'

पंडित सर्वदयाल के मुख-मंडल पर एक अपूर्व तेज की आभा दमकने लगी, जो इस मायावी संसार में कदाचित् ही कहीं

दीख पड़ती है। उन्होंने धैर्य और दृढता से उत्तर दिया—'यह असम्भव है।'

'क्या मेरी मेम्बरी का इतना अधिक खयाल है?'

'नहीं, यह कर्त्तव्य का प्रश्न है।'

लाला हशमतराय निरुत्तर होकर चुप हो गये। सहसा उन्हें विचार हुआ कि 'रफ़ीक-हिन्द' पंडित जी को अत्यंत प्रिय है, मानो वह इनका प्यारा बेटा है। धीर-भाव से बोले—'रफ़ीक-हिन्द को छोड़ दोगे?'

'हाँ, छोड़ दूँगा।'

'फिर क्या करोगे?'

'कोई काम कर लूँगा, परंतु सचाई को न छोड़ूँगा।'

'पंडित जी! तुम भूल रहे हो। अपना सब कुछ गँवा बैठोगे।'

'सच तो बचा रहेगा। बस, मैं यही चाहता हूँ।'

लाला हशमतराय ने देखा कि अब कुछ और कहना निष्फल है; चुप होकर बैठ गये। इतने में ठाकुर हनुमंतराय के एक नौकर ने आकर पंडित सर्वदयाल के हाथ में एक लिफ़ाफ़ा रख दिया। उन्होंने खोलकर पढ़ा और कहा—'मुझे पहले ही आशा थी।'

लाला हशमतराय ने पूछा—'क्या है? देखूँ।'

'त्यागपत्र स्वीकृत हो गया।'

७

ठाकुर हनुमंतरायसिंह ने सोचा—'यदि अब भी सफलता न हुई तो नाक कट जायगी।' धनवान पुरुष थे, थैली का मुँह खोल दिया। मित्र और लोलुप खुशामदियों की सम्मति से कारीगर हलवाई बुलवाये गये और चूल्हे गर्म होने लगे। ताँगे दौड़ने लगे और वोटों पर पौण्ड निछावर होने लगे। अब तक ठाकुर साहब का घमंडी सिर किसी के आगे न झुका था। परंतु इलेक्शन क्या आया, उनकी प्रकृति ही बदल गई। अब कंगाल से कंगाल आदमी भी मिलता तो मोटर रोक लेते और हाथ जोड़कर नम्रता से कहते—'कोई सेवा हो तो आज्ञा दीजिए, दास उपस्थित है।' कदाचित् ठाकुर साहब का विचार था कि लोग इस प्रकार वश में हो जायँगे। परंतु यह उनकी भूल थी। हाँ, जो लालची थे वे दिन रात ठाकुर साहब के घर मिठाइयाँ उड़ाते और मन में प्रार्थना करते कि काश, गवर्नमेन्ट नियम बदल दे और इलेक्शन हर तीसरे महीने हुआ करे।

परंतु लाला हशमतराय की ओर से न कोई ताँगा दौड़ता था, न लड्डू बँटते थे। हाँ, दो चार सभायें अवश्य हुईं जिनमें पंडित सर्वदयाल ने धाराप्रवाह व्याख्यान दिये, और प्रत्येक रूप से यह सिद्ध करने का यत्न किया कि लाला हशमतराय से बढ़कर मेम्बरी के लिए और कोई आदमी योग्य नहीं।

इलेक्शन का दिन आ पहुँचा। ठाकुर हनुमन्तरायसिंह और लाला हशमतराय दोनों के हृदय धड़कने लगे, जिस प्रकार परीक्षा का परिणाम निकलते समय विद्यार्थी अधीर हो जाते हैं। दोपहर

का समय था। पर्चियों की गिनती हो रही थी। ठाकुर हनुमंतराय के आदमी फूलों की मालाएँ, विक्टोरिया बैण्ड, और आतिशबाज़ी के गोले लेकर आये थे। उनको पूरा विश्वास था कि ठाकुर साहब मेम्बर बन जायँगे। और विश्वास का कारण भी था, क्योंकि ठाकुर साहब का पचीस हज़ार उठ चुका था। परंतु परिणाम निकला तो उनकी तैयारियाँ धरी-धराई रह गईं। लाला हशमतराय के वोट अधिक थे।

इसके पंद्रहवें दिन पंडित सर्वदयाल रावलपिंडी को रवाना हुए। रात्रि का समय था, आकाश तारों से जगमगा रहा था। इसी प्रकार की रात्रि थी, जब वे रावलपिंडी से अम्बाले को आ रहे थे। किंतु इस रात्रि और उस रात्रि में कितना अन्तर था! तब हर्ष से उनका चेहरा लाल था, आज नेत्रों से उदासी टपक रही थी। भाग्य की बात, आज सूट भी वही पहना हुआ था, जो उस दिन था। उसी प्रकार कमरा ख़ाली था, और एक यात्री एक कोने में पड़ा सो रहा था।

पंडित सर्वदयाल ने शीत से बचने के लिए हाथ जेब में डाला तो काग़ज़ का एक टुकड़ा निकला। देखा तो वही काग़ज़ था, जिस पर एक वर्ष पहले उन्होंने बड़े चाव से लिखा था :—

पंडित सर्वदयाल बी० ए०, एडीटर रफ़ीक-हिन्द, अम्बाला।

उस समय इसे देखकर आनन्द की तरंगें उठी थीं, आज शोक छा गया। उन्होंने इसके टुकड़े टुकड़े कर दिये और कंबल

ओढ़कर लेट गये। परंतु नींद न आई।

८

कैसी शोकजनक और हृदयद्रावक घटना है! जिसकी योग्यता पर समाचार-पत्रों में लेख निकलते हों, जिसकी वक्तृताओं पर वाग्मिता निछावर होती हो, जिसका सत्यस्वभाव अटल हो, उसको आजीविका चलाने के लिए केवल पाँच सौ रुपये की पूँजी से दुकान करनी पड़े। निस्सन्देह, यह सभ्य-समाज का दुर्भाग्य है।

पंडित सर्वदयाल को दफ़्तर की नौकरी से घृणा थी और अब तो वे एक वर्ष एडीटर की कुर्सी पर बैठ चुके थे—'हम और हमारी सम्मति' का स्वाद चख चुके थे; इसलिए किसी और नौकरी को मन न मानता था। कई समाचार-पत्रों में प्रार्थना-पत्र भेजे परंतु नौकरी न मिली। विवश होकर उन्होंने एक दुकान खोली, परंतु दुकान चलाने के लिए जो चालें चली जाती हैं, जो झूठ बोले जाते हैं, जो अधिक से अधिक मूल्य बतलाकर उसको कम से कम कहा जाता है, इससे पंडित सर्वदयाल को घृणा थी। उनको मान इस बात का था कि मेरे यहाँ सच का सौदा है। परंतु संसार में इस सौदे के ग्राहक कितने हैं? उनके पिता उनसे लड़ते थे, झगड़ते थे, गालियाँ देते थे। पंडित सर्वदयाल यह सब कुछ सहन करते थे, और चुपचाप जीवन के दिन गुज़ारते थे। उनकी आय इतनी न थी कि पहले की तरह तड़क भड़क से रह सकें। इसलिए न कालर नेकटाई लगाते थे, न पतलून पहनते थे। बालों में तेल डाले महीनों बीत जाते थे, परंतु उन्हें

कोई चिंता न थी। घर में गाय रक्खी हुई थी, उसके लिए चारा काटते थे, सानी बनाते थे। कहार रखने की शक्ति न थी, कूएँ से पानी आप भरते थे। उनकी स्त्री चर्ख़ा कातती थी, कपड़े सीती थी, और घर के अन्य काम-काज करती थी, कभी कभी लड़ भी पड़ती थी। परंतु सर्वदयाल चुप रहते थे।

प्रातःकाल का समय था। पंडित सर्वदयाल अपनी दुकान पर बैठे रफ़ीक़-हिन्द का नवीन अंक देख रहे थे, और रह-रहकर अफ़सोस कर रहे थे। जैसे एक बाग़बान सिरतोड़ परिश्रम कर फूलों की क्यारियाँ तैयार करे, और उनको कोई दूसरा माली नष्ट कर दे।

इतने में उनकी दुकान के सामने एक मोटरकार आकर रुकी, और उसमें से ठाकुर हनुमन्तरायसिंह उतरे। पंडित सर्वदयाल चौंक पड़े। ख़याल आया—'आँखें कैसे मिलाऊँगा। एक दिन वह था जब इनमें प्रेम का वास था, परंतु आज उसी स्थान पर लज्जा का निवास है।'

ठाकुर हनुमन्तराय ने पास आकर कहा—'अहा! पंडित जी बैठे हैं। बहुत देर के बाद दर्शन हुए। कहिए, क्या हाल है?'

पंडित सर्वदयाल ने धीरज से उत्तर दिया—'अच्छा है। परमात्मा की कृपा है।'

'यह दुकान अपनी है क्या?'

'जी, हाँ।'

'कब खोली ?'

'आठ मास के लगभग हुए हैं।'

ठाकुर साहब ने उनको चुभती दृष्टि से देखा और कहा—'यह काम आपकी योग्यता के अनुकूल नहीं है।'

पंडित सर्वदयाल ने बेपरवाई से उत्तर दिया—'संसार में बहुत से मनुष्य ऐसे हैं, जिनको वह करना पड़ता है जो उनके योग्य नहीं होता। मैं भी उनमें से एक हूँ।'

'आमदनी अच्छी हो जाती है ?'

पंडित सर्वदयाल उत्तर न दे सके। सोचने लगे—क्या कहूँ। वास्तव में बात यह थी कि आमदनी बहुत ही थोड़ी थी। परंतु इस सचाई को ठाकुर साहब के संमुख प्रकट करना उचित न समझा। जिसके सामने एक दिन गर्व से सिर ऊँचा किया था और मान-प्रतिष्ठा को इस प्रकार पाँव से ठुकरा दिया था, मानो वह मिट्टी का तुच्छ ढेला हो, उसके सामने पश्चात्ताप न कर सके और उन्होंने यह कहना उचित न समझा कि हालत खराब है। सहसा उन्होंने सिर ऊँचा किया और धीर भाव से उत्तर दिया—'निर्वाह हो रहा है।'

ठाकुर साहब दूसरे के हृदय को भाँप लेने में बड़े चतुर थे; इन शब्दों से सब कुछ समझ गये। सोचने लगे—कैसा सूरमा है, जो जीवन के अन्धकारमय क्षणों में भी सुमार्ग से इधर-उधर नहीं हटता। चोट पर चोट पड़ती है, परंतु हृदय सच के सौदे को नहीं छोड़ता। ऐसे ही पुरुष हैं जो विपत्ति की वेगवती नदी में सिंह की नाईं सीधे

तैरते हैं, और अपनी आन पर धन और प्राण दोनों को निछावर कर देते हैं। ठाकुर साहब ने जोश से कहा—'आप धन्य हैं।'

पंडित सर्वदयाल अभी तक यही समझे हुए थे कि ठाकुर साहब मुझे जलाने के लिए आये हैं, परंतु इन शब्दों से उनकी शंका दूर हो गई। अन्धकाराच्छन्न आकाश में किरण चमक उठी। उन्होंने ठाकुर साहब के मुख की ओर देखा; वहाँ धीरता, प्रेम, लज्जा तथा पश्चात्ताप का रंग झलकता था। आशा ने निश्चय का स्थान ले लिया। सकुचाये हुए बोले—'यह आपका अनुग्रह है। मैं तो ऐसा नहीं समझता।'

ठाकुर साहब अब न रह सके। उन्होंने पंडित सर्वदयाल को गले से लगा लिया और कहा—'मैंने तुम पर बहुत अन्याय किया है। उसे क्षमा कर दो। रफ़ीक़-हिन्द को सँभालो, आज से मैं तुम्हें छोटा भाई समझता हूँ। परमात्मा करे तुम पहले की तरह सच्चे, विश्वासी, न्यायप्रिय और दृढ़ मनुष्य बने रहो; मेरी यही कामना है।'

पंडित सर्वदयाल अवाक् रह गये। वे न समझ सके कि यह स्वप्न है अथवा सचमुच ही भाग्य ने फिर पल्टा खाया है। आश्चर्य से ठाकुर साहब की ओर देखने लगे।

ठाकुर साहब ने अपने कथन को जारी रखते हुए कहा—'मैंने हज़ारों मनुष्य देखे हैं जो कर्त्तव्य और धर्म पर दिन-रात लेक्चर देते नहीं थकते, परंतु जब परीक्षा का समय आता है, सब कुछ भूल जाते हैं। एक तुम हो, जिसने इस जादू पर विजय प्राप्त

की है। उस दिन तुमने मेरी बात रद्द कर दी थी किंतु आज यह न होगा। तुम्हारी दुकान पर बैठा हूँ, जब तक हाँ न कहोगे यहाँ से न हिलूँगा।'

पंडित सर्वदयाल की आँखों में आँसू झलकने लगे। गर्व ने ग्रीवा झुका दी। तब ठाकुर साहब ने सौ सौ रुपये के दस नोट बटुए में से निकालकर उनके हाथ में दिये, और कहा—'यह तुम्हारे साहस का पुरस्कार है। तुम्हें स्वीकार करना होगा।'

पंडित सर्वदयाल अस्वीकार न कर सके।

ठाकुर हनुमन्तराय जब मोटर में बैठे तब उनके पुलकित नेत्रों में आनन्द का नीर झलकता था, मानो कोई निधि हाथ लग गई हो। उनके साथ एक अँगरेज़ मित्र बैठा था। उसने पूछा—'वैल, ठाकुर साहब, इस डुकान में क्या ठा जो टुम लम्बा डेर खड़ा मांगटा।'

'वह चीज़, जो और किसी भी दुकान पर नहीं।'

'कौन-सा ?'

'सच का सौदा।'

परंतु अँगरेज़ इससे कुछ न समझ सका।

मोटर चलने लगी।

श्री गोविंदवल्लभ पंत

जीवन-परिचय

पंत जी का जन्म अल्मोड़ा में संवत् १९५६ वि० में हुआ था। अब आप ए० वी० स्कूल रानीखेत में अध्यापक हैं। आप चलते कवि, नाटककार और गल्पलेखक हैं। हिंदी की प्रायः सभी मासिक-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

इनकी रचनाओं में छायावाद की झलक रहती है। कल्पना की उड़ान के साथ साथ इनकी भाषा सरल, सरस तथा काव्यमयी होती है।

'जूठा आम' इनकी उत्कृष्ट कहानी है।

जूठा आम

माया केवल हँस देती थी। मेरे प्रश्नों का मुझे सदा यही उत्तर मिलता था। जब वह मेरे सामने से चली जाती थी, तब मैं उसके हास्य में अपने अर्थ को टटोलता था। भ्रांत भिखारी भी उस दिन में, जो उसके लिए रात के समान है, क्या इसी तरह अपना पथ खोजता होगा ?

मैं एक भग्न कुटीर में रहता था। सामने ही उसकी सुविशाल अट्टालिका थी। उस प्रासाद की सर्वोच्च मंज़िल के बरामदे में चिकें पड़ी हुई थीं। शायद माया अपने दो हाथों से कभी-कभी एकाध तीलियाँ तोड़ दिया करती थी। चिक का एक कोना खुल गया था। उसी कोने से, उसी की लापरवाही से एक दिन मैंने उसे देख लिया। वह एक दिन वहाँ पर फिर आई, मैंने फिर देखा। मैं उसे पहचान गया, वह मुझे पहचान गई।

इसके बाद वह वहाँ नित्य कुछ देर के लिए आती थी। मैं बड़ी देर तक प्रतीक्षा करता था। प्रतीक्षा कभी विफल न गई।

मैंने जितनी बार उसके स्वर्गीय रूप के दर्शन किये, उतनी ही बार उसमें कुछ-न-कुछ नवीनता अवश्य पाई। उसका विश्वमोहन हास्य मुझे अपने नाम की तरह खूब अच्छी तरह याद है, किंतु मुझे याद क्या, मालूम भी नहीं, उसका कंठ कितना करुण और कोमल था।

मैं उसकी वाणी को सुनने के लिए बड़ा ही उत्सुक था, किंतु वह पाषाण—नहीं, नहीं, सुवर्ण की प्रतिमा—कभी बोली ही नहीं। मैंने बड़े-बड़े उपाय किये, पर उसके अधरों से मुस्कान निकली, शब्द नहीं निकले; चित्र देखा, संगीत नहीं सुना; भाव मिला, अर्थ नहीं पाया; मेरे नेत्र कृतकृत्य हुए, कान अतृप्त ही रहे। कभी कभी मेरे कर्णद्वय मुझसे कानाफूसी कर कहने लगे—'तू बहरा तो नहीं है ?'

२

जो भी हो, लोग कहते हैं—जीवन की सब से प्रिय वस्तु, सब से मनोहर घटना अच्छी तरह याद रहती है; पर मुझे वह भयानक संध्या अभी-की-तरह खूब याद है।

आह ! वह ग्रीष्म की संध्या थी। तापतप्त भूमि पर पानी छिड़ककर मैं भोजन बना रहा था। अचानक सूर्योदय हुआ, चिक के पास मुझे माया दिखाई दी। वह आम चूस रही थी। आम

मधुर था, उससे हजार गुना माधुर्य माया की मुस्कान में था। होठों में ऐसी माधुरी रखकर भी माया न जानें क्यों आम चूस रही थी!

माया ने आम चूस चूसकर उसके छिलके दूर फेंक दिये। वह जानती थी, यदि उसके जूठे आम का एक भी छिलका मेरी रसोई में गिर जाय तो वह अपवित्र हो जायगी। मैं समझता था, यदि उसका एक भी जूठा छिलका मेरी रसोई में गिर जाय तो वह पवित्र हो जायगी।

माया गुठली चूस रही थी। अचानक! गुठली उसके मुँह से फिसल गई। माया को एकाएक यह ध्यान हुआ कि वह गुठली मेरी रसोई में गिरेगी। वह उसको सम्हालने को बढ़ी। गुठली गिरी, उसी के साथ माया भी। माया की असावधानी से गुठली गिरी और विश्व की असावधानी से माया। संसार! क्या माया अब तेरे किसी काम की न थी। उस कलिका का अभी विकास भी कहाँ हुआ था मूढ़!

गुठली और माया मेरे समीप कठोर भूमि पर गिर पड़े! मेरे ऊपर वज्र गिर पड़ा। मैंने देखा, माया मूर्च्छित हो गई थी।

क्षण भर में ही उसके माता-पिता वहाँ पर दौड़े आये। पंखा करने पर माया ने आँखें खोलीं, सब के प्राण में प्राण आये। माया ने अधर खोले, मुझे जीवन मिला, अधरों में कंपन हुआ, माया ने कहा—'गुठली जूठी नहीं थी।' इसके बाद माया ने होंठ बंद कर लिये, आँखें बंद कर लीं। फिर माया कुछ न बोली। उसके वह स्वर अंतिम हुए। माया सदा को चली गई।

चारों ओर से 'गुठली जूठी नहीं थी' यही प्रतिध्वनित हो रहा था। जड़-जीव एक-एक कर मुझ से कहने लगे—'गुठली जूठी नहीं है।' सारा संसार एक स्वर से कहने लगा—'गुठली जूठी नहीं है।'

माया फिर कहीं नहीं दिखाई दी। बहुत दिन तक उसकी खोज में इधर-उधर पागलों की तरह घूमता रहा, कहीं उसका निशान नहीं मिला।

संसार में जब मेरे लिए कोई आकर्षण नहीं रहा, तब मैं उसका त्याग कर निर्जन वन में रहने लगा। माया की वह जूठी गुठली मेरी एकमात्र संगिनी थी। मैंने माया के पाने की चेष्टा की, नहीं मिली। शांति खोजी, वह भी नहीं मिली।

२

एक दिन श्याम मेघ, आकाश से वारिसिंचन कर रहे थे। मैंने अपना समस्त मोह त्याग कर वह गुठली ज़मीन में बो दी। कुछ दिन बाद अंकुर निकल आया। मैंने अनवरत परिश्रम कर उस अंकुर की रक्षा की। कुछ दिन में वह अंकुर एक विशाल वृक्ष में परिणत हो गया।

अचानक एक मधु-वसंत में उसमें बौर निकल आये। उस समय मैंने देखा, मानो माया अपने हास्य को लेकर आ गई है। कोकिला उसमें विश्राम कर कूकने लगी, मानो वही माया का स्वर

था। प्रत्येक बौर में आम निकल आये, मानो माया कहने लगी—'आम जूठा नहीं है।'

उसी वृक्ष के नीचे अब मेरी कुटी है। उस वृक्ष के ऊपर मैंने पक्षियों को घोंसला बनाने और आराम करने की आज्ञा दे रक्खी है। नीचे छाया में मैं प्रत्येक तापतप्त बटोही से कुछ देर आराम करने का अनुरोध करता हूँ।

हर साल आम की फ़सल में प्रत्येक पथिक को मैं एक-एक आम देता हूँ। जिस समय वे उसे खाते हैं, समझता हूँ आम जूठा नहीं है।

साल में एक बार आम्र-मंजरियों की आड़ से झाँक कर माया मुझे दर्शन देती है। उससे कहता हूँ—'माया!'

वह लज्जित हो जाती है और पत्तों के घूँघट को अधिक खींच लेती है। मैं कहता हूँ—'क्यों माया, इतनी लज्जा क्यों?'

वह कहती है—'अब मेरा विवाह हो गया।'

शब्दार्थ

पृष्ठ

२ बंबूकार्ट–बंबूकाट, इक्का
चींथकर–चीत कर, दबा कर
लड्डी–छकड़ा

४ भारेवाले–भार वाले, बोझा ढोने वाले
चितौनी–चेतावनी
लीक–मार्ग का वह भाग जिस पर गाड़ी का पहिया चलता है
जीऊणजोगिये–जीवन योग्य
समष्टि–समूह;यहाँ 'संक्षेप में'
सुथना–पाजामा

५ कुड़माई–सगाई

पृष्ठ

६ उपाधि–डिग्री; खिताब
ज़लज़ले–भूचाल, भूकम्प
गनीम–शत्रु
गैबी गोली–अज्ञात स्थान से छूटी हुई गोली
रिलीफ़–सहायता; सहायक सेना
झटका–एक ही प्रहार में पशु मारना

७ कमान–कमांड, आज्ञा
सिगड़ी–अँगीठी
विदूषक–नाटकों में मज़ाक करने वाला पात्र

९ बरानकोट–फौजियों का

खास ओवरकोट
१० जरसी-कुर्ता की बनावट का ऊनी कपड़ा
१२ मेस-भोजनशाला
१३ क़यामत-प्रलय
१४ गुत्थी-थैली
१५ कुंदा-बंदूक का दस्ता
माझा-पंजाब में पट्टी, तरन-तारन का समीपवर्ती इलाका
चकमा-धोका
१६ कपालक्रिया-कपाल फोड़ना; जलाते समय अधजले मुर्दे का मस्तक फोड़ देते हैं
हड़का-हड़काया हुआ, बावला
१७ क्षपा-रात्रि
बाणभट्ट-कादंबरी का लेखक; संस्कृत का सर्वोत्कृष्ट गद्यलेखक
१८ दंतवीणोपदेशाचार्य-इतनी ठंडी हवा कि जिसमें दाँत कटकटाने लगें; अर्थात् दाँतों को वीणा के समान बजाना सिखाने वाली
तुरत बुद्धि-प्रत्युत्पन्न मति; मौके को देखते ही सूझने वाली बुद्धि
फील्ड-युद्धक्षेत्र
२० सालू-स्त्रियों के सिर पर ओढने का लाल खद्दर का दुपट्टा
लाम-युद्ध
२१ खिताब-उपाधि
नमकहलाली-कृतज्ञता; खाये नमक का बदला देना
तीमियों-स्त्रियों
२२ ओबरी-नीचे की मंज़िल की कोठरी
हाड़-आषाढ़
२९ संचालित-चलाया गया; (शुद्ध प्रयोग संचरित)
,, सानी-उपमा
३० लावण्यता-लावण्य, लुनाई, चमक
ख्याति-यश

कटाक्ष-तिरछी नज़र

रजकण-धूलि का कण

२१ विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन-बंबई में विक्टोरिया टर्मिनस नाम का रेल का अंतिम स्टेशन

बाँसों उछल रहा था-अत्यधिक प्रसन्न हो रहा था; बाग़ बाग़ हो रहा था

२२ नहलाते थे-न्हिलाते थे

व्यथित-दु:खी

हृष्टपुष्ट-तगड़े

२३ बरगद-बड़

सुखप्रद-सुख देने वाला

फुनगियाँ-चोटियाँ

२४ कोल्हवाड़ा-कोल्हू

पेरी जाती थी-पेली जाती थी

हस्तलाघव-कुशलता, तेजी, सफ़ाई

हृदयविदारक-हृदय को दुखाने वाला

२५ अविरल-अटूट, बंद न होने वाली, लगातार

मदिरा-शराब

विवशतः-बेबसी से

कर्कश-कठोर

रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की-सारी रात जागते ही बिताई

२६ कमंडलु-लोटा; साधुओं का लोटा

प्रभावोत्पादक-असर डालने वाला, बा-असर

२७ आनंदातिरेक-आनंद की अधिकता

पतितपावनी-गिरे हुओं को पवित्र करने वाली; गंगा माता

भागीरथी-गंगा

गायत्री मंत्र-वेद का यह मंत्र :—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

प्रत्येक आर्य प्रातःसायं

संध्या के समय इस मंत्र को जपता है

३७ सस्वर—स्वरसहित; गाकर अथवा उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित आदि स्वरों के साथ

३८ अस्थियाँ-हड्डियाँ; हिंदू लोग मृतकों की हड्डियाँ गंगा में प्रवाहित करते हैं

गंगा तट पर प्राण निकलें—हिंदुओं के मत में गंगा तट पर मरने से मुक्ति मिलती है। तुलना करो 'काश्यां मरणान्मुक्तिः'

३९ कुस्तुंतुनिया—कौंस्टेंटिनोपल

आतंक—रोब

ससम्मान—इज्जत के साथ

४० मदांध—बेहोश, मतवाला

मजलिस—सभा

मानवरक्त—मनुष्य का खून

वीभत्स—ग्लानि उत्पन्न करने वाला

कातर—भयभीत

४१ इसपात—शुद्ध लोहा

अतुल—जिसकी तुलना न हो सके

कृतघ्नता—किए हुए को न मानना

यदि तलवार ही सभ्यता का प्रमाण पत्र होती—यदि युद्ध में विजयी होने से ही कोई देश सभ्य कहला सकता

४२ नारकी—नरक में रहने वाला

शपथ-सौगंद

तलवार सौंतकर—तलवार खींच कर; सौंत=सूँत

घातक—मारने वाली

४३ जी-जान से-पूरे प्रयत्न से, मन से और जीवन से

स्तंभित—स्तब्ध; भय से चुप

संमोहित—मूढ, मुग्ध, अवाक्, आश्चर्यचकित

कुतूहलमय प्रोत्साहन—कौतुक भरा उत्साह,

जोश

जीवन्मुक्त करके- मार कर; जीवन्मुक्त शब्द योगियों के लिए रूढ है; यहाँ उसका प्रयोग अयुक्त है

४४ क्या इसी वध—उज्ज्वल करेगा-विरोधाभास; स्याही से काला होता है, सफ़ेद नहीं

आत्मोत्सर्ग-आत्मा का त्याग; जीवन का बलिदान

परवरदिगार-खुदा, परमेश्वर

हीलहुज्जत-आनाकानी, 'ननु नच'

लालसा-चाह

अवज्ञा-नीची निगाह से देखना; अपमान

४५ मिथ्या प्रशंसा-झूठी तारीफ़, खुशामद

अहंमन्यता-अहंकार, मैं बड़ा हूँ यह मानना; अहं-मैं, मन्यता-मानना

४५ निर्भीक-निडर

पैग़म्बर-दूत, परमात्मा की ओर से आया हुआ पवित्र आत्मा

कीर्ति का पर्दा खोल दिया-कीर्ति को मिट्टी में मिला दिया

विश्वविजयिनी-विश्व= संसार, विजयिनी= जीतने वाली

हास्यास्पद-हास्य=हँसी, आस्पद=योग्य

चिमट-चिपट, आलिंगन

दार्शनिक-दर्शन का जानने वाला; (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदांत का जानने वाला)

४६ देवस्वभाव-देवताओं के जैसे स्वभाव वाले, पवित्रात्मा

मार्गभ्रष्ट-पथच्युत, मार्ग से गिरा हुआ

४६ अग्निपूजक–अग्नि की पूजा करने वाला, प्राचीन काल में फ़ारस के निवासी अग्नि को देवता मान उसकी पूजा करते थे; बंबई के पारसी अब भी ऐसा ही करते हैं

गद्गद कंठ–रुँधा हुआ गला, प्रसन्नता के साथ

४७ सत्ता–हस्ती, अस्तित्व

गुणज्ञता–भद्रता; गुणों को पहचानने वाली वृत्ति

अमिश्रित–न मिली हुई, कोरी, केवल

बर्बरता–असभ्यता, अमानुषता

४८ अभीष्ट–अभिलषित

अस्थिर चित्त–डाँवांडोल

विध्वंस–विनाश

आग्रह–हठ, ज़िद

षड्यंत्र–गुप्त मंत्रणा

४९ प्रतिभा–सूझ वाली बुद्धि; तुरत-बुद्धि

दीक्षा-गुरुमंत्र

आरूढ़-स्थिर, डटे रहना

ज़रदुश्त धर्म-पारसियों का धर्म, जिसमें अग्नि की पूजा की जाती है

अन्वेषण–खोज, ढूँढ

तुलनात्मक अध्ययन-दो वस्तुओं को तुलना की दृष्टि से समझना

फूले न समाए-बहुत अधिक प्रसन्न हुए । देखो, 'बाँसों उछले'

५० सत्यनिष्ठा–सत्य में विश्वास; सत्य में स्थित होना

स्वाध्याय–अध्ययन, अनुशीलन, मनन; प्राचीन काल में स्वाध्याय का अर्थ अपनी शाखा के वेद को पढ़ना होता था

तलवार ही सब से बड़ा न्यायालय थी–जिस की लाठी उसकी भैंस

शिक्षादीक्षा-पठन पाठन, शिक्षण

५० दर्शन—तत्त्वज्ञान, देखना
विज्ञान—साइंस
अध्यात्म—आत्मा के साथ संबंध रखने वाला शास्त्र, वेदांत
सैन्यसंचालन—फौजें चलाना
एक हज़ारी पद—एक हज़ार सिपाहियों के ऊपर अधिकार
अरुचि—घृणा
५१ महिला—स्त्री
वैवाहिक बंधन—विवाह से उत्पन्न होने वाला बंधन; गृहस्थ के झगड़े टंटे
बाधा—रोक
स्वाधीनता—स्वतंत्रता, स्व—अपने, अधीन
अजेय—न जीती जाने योग्य
५२ कल्पनातीत—न सोची जाने योग्य; कल्पना से अतीत=बाहर
उल्लास—आनंद
हृदय के अक्षय भंडार—प्रेम
सौम्य—नम्र तथा सुंदर
रमणी-वेष-मोहिनी—स्त्री वेष में मुग्ध करने वाली
५३ कुत्सा—निंदा
ऊँच नीच सुझाना—भला बुरा समझाना
५४ निष्काम—कामनारहित, जिस में स्वार्थ न हो
स्वत्व—अधिकार
परीक्षित—जाँचा हुआ
५५ आश्वस्त न हो सकी—भरोसा न कर सकी
सद्भाव—अच्छी भावना
सामीप्य—समीपता, निकटता
५६ विरक्त—राग-द्वेष से रहित
विलास-सभा—आमोद प्रमोद की मजलिसें
कोमलांगी—स्त्री; कोमल शरीर वाली
५७ आत्मग्लानि—अपने आपसे घृणा
द्रवित हो गया—वह निकला; पसीज गया
विज्ञप्ति—अर्ज़, प्रार्थना

५७ दयनीय प्रार्थी–दया के योग्य माँगने वाला
हिंसात्मक मुद्रा–कठोर मुखाकृति
जाग्रत विवेक–जागती हुई, भले बुरे को पहचानने वाली बुद्धि
५८ स्फूर्ति–फड़कन, क्रियात्मकता
अहोभाग्य–सौभाग्य
मनःतुष्टि–मन का संतोष
आभास–प्रतीति
५९ आदेश–आज्ञा
सद् प्रेरणा–सत्प्रेरणा, शुभ प्रेरणा
दुःसाध्य–कठिन, मुश्किल से साधा जाने योग्य
नरसंहार–मनुष्यों का विनाश
खुदा न करे तुम्हारे दुश्मनों को कुछ हो गया तो–परमात्मा न करे कि कहीं शत्रु जीत जायँ तो—
६० आहत-चोट खाया हुआ
परास्त करके-जीत कर, दूर फेंक कर, तितर बितर करके
६१ जज़िया–मुसलमानों की ओर से विधर्मियों पर लगाया गया कर
नियमों का क्रियात्मक विरोध-नियमों के विरुद्ध जान बूझ कर काम करना
६२ अधर्म-पोषण-पाप की पुष्टि
उद्दंड-उद्धत; अक्खड़
६३ कंपन-कँपकँपी
मानव रक्त का रंग खेले-मनुष्यों के खून की होली खेले
६५ हस्तक्षेप-हाथ डालना, रुकावट, दस्तंदाजी
६६ हतबुद्धि-हकाबका, अवाक्, जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई हो
६७ व्यक्तित्व-व्यक्तिता, एक व्यक्ति की हैसियत
(यह तुम्हीं हो जिसने)
आन की आन में–देखते

देखते, बात की बात में; जल्दी ही

६८ वंचित न करेंगे—उनके अधिकार न छीनेंगे; उन्हें उनके अधिकारों से महरूम न करेंगे

स्मितहास्य—मुस्कराहट भरी हँसी

कपोल—गाल

युवती चेतना—जवानी

७० अधर—ओठ, निचला ओठ

७२ निरुद्देश्य—उद्देश्यरहित

अरुण—लाल

प्रमोदगृह—क्लब

पार्श्व—बग़ल

७४ प्रतिस्थापित—प्रतिष्ठापित, स्थापना करके, बैठाकर

एकनिष्ठ—एक ध्यान, एक चित्त

समग्र—सारा, समूचा

शुद्ध तत्काल के प्राणी—आगे पीछे की चिंता न करने वाले; वर्तमान का आनंद लेने वाले

७४ अविरत—अविरल, अटूट

७५ पितृदेव—पिता

निरापद—आपत्तिरहित

कुललक्ष्मी—घर के रत्न, स्त्री

गरिमा—महिमा, बड़प्पन

नेटिव—देशी

७६ ताँता—तांति, पंक्ति

इक्का-दुक्का—एक दो

दीपमालिका—दीपमाला, दिवाली

घनीभूत—घनी

७७ शुभ्र—सफ़ेद

संसृति—संसार

निर्भेद्य—गहरा, जो भेदा न जा सके, जिसमें देखा न जा सके

बृहदाकार—विशाल

७८ सनक—मन की मौज

७९ प्रकाशवृत्त में—रोशनी के दायरे में

मौन-मूक—चुपचाप

८१ मौत से पहचान हो गई—मर गया

८३ सकपका कर—अकचका

कर, विस्मित से होकर

८४ असमंजस–दुविधा, क्या करूँ क्या न करूँ

बेहयाई–बेशरमी, निर्लज्जता

८५ उपहार–पुरस्कार, इनाम

शव–मृतक, मुर्दा

८७ निर्मम–ममतारहित, शिवजी

विशृंखल–शृंखलारहित, टूटा हुआ

विजय-विजय-विजय–जीत-जीत-जीत; केवल जय

अनुशीलन–मनन, विचार

८८ अलक्षेन्द्र–अलेग्ज़ेंडर दि ग्रेट; महान् सिकंदर; ग्रीस का प्रख्यात सम्राट्, जिसने भारत पर चढ़ाई करके पोरस के साथ युद्ध किया था

सीजर–रोम का प्रसिद्ध सम्राट्, जिसकी कथा शेक्सपीयर के जूलियस सीज़र नामक नाटक में आई है

८८ तत्परता–लगन

जोखम–विपत्ति, ख़तरा

८९ अनिष्टकर–अनर्थ करने वाली, बुरी

मनस्ताप–चिंता, शोक, मन की तपिश

नीरव प्रकृति–शांत जगत्; निः=बिना, रव=शब्द

व्यंग मौन–व्यंग्य भरी चुप्पी

चीन्ह पड़ता था–पहचाना जाता था; चिह्न=पहचान का निशान; चिह्न=संज्ञा; चीह्नना क्रिया

९० सशंक–शंकासहित

निरापद्–देखो पृष्ठ ७५

मुठ भेड़–सामना, मुट्ठियों से भिड़ना, लड़ना

आहत–देखो पृष्ठ ६०

लोहू से लुहान हो गये थे–लोहूलुहान हो गये थे, क्षत-विक्षत हो गये थे; लोहू संज्ञा लुहान

क्रिया; शतृप्रत्ययांत

९१ जीवन विसर्जन—जीवन का त्याग, आत्म-बलिदान

खेतिहर—खेतिधर, किसान

अनिष्ट—देखो पृष्ठ ८६

आत्मत्रस्त—आपे में, त्रस्त=डरा हुआ

आत्मग्रस्त—आपे में, ग्रस्त-डूबा हुआ, मस्त

आत्मव्यस्त—आपे में, उखड़ा-पुखड़ा

आत्मनिमग्नता—आपे में एकचित्त होना; निमग्न=डूबा हुआ

९२ निठल्ली—ठाली; नि=नितांत खाली

अनुभूति—अनुभव

कसक—टीस

ज़र्कबर्क—चमकीला

वैभव-ऐश्वर्य

आवरण—ढकना, कपड़े; आ=चारों ओर से वरण=ढकना

एकबारगी—एक दम; एक बारक=बार

९३ अविरल—देखो पृष्ठ ३५

ढुरकते हुए-लुढकते हुए, बहते हुए

हृदयोत्सर्ग—हृदय का विसर्जन; उत्सर्ग=त्याग

अर्घ्य—पूजा की सामग्री

प्रणय—प्रेम, प्र=सामने, नय=लाना

निसर्गशुद्ध—स्वभावतः पवित्र

प्रणय-रस—प्रेमरस

आवाहन—आह्वान, बुलाना

निर्द्वंद्व-द्वंद्वरहित, चिंता-रहित; रागद्वेष, सुख दु:ख आदि विरोधी जोड़ों का नाम द्वंद्व है; इन द्वंद्वों से उत्पन्न होने वाले क्लेश और चिंता से रहित

९५ फ़तह—विजय, जीत

तालिका—ताली, कुंजी

अभिभूत कर लेती हैं—दबा लेती हैं

९४ त्राण-शरण

व्यस्तता-अनियमितता; उथल-पुथल

गहेगा-पकड़ेगा

उभार-ज्वाला, ताप

९५ अभिन्न प्रेम-संभाषण-प्रेम की वह बातचीत, जिसमें प्रेमियों का भेदभाव जाता रहे

वातावरण-वायुमंडल, वात=वायु; आवरण=ढकना

९७ चुक गया-समाप्त हो गया

उत्सर्ग-त्याग

९९ भीने स्वर में-धीमी आवाज़ में

१०० परिधि-सीमा, दायरा, चारदीवारी; परि=चारों ओर, धा=रखना

अनिवार्य-न निवारण किया जाने योग्य; अवश्यंभावी

तन्त्र-ताँता; पसारा

आनंद के सक्रिय समारोह में तन्मय योग देना-आनंद के क्रियाशील (कर्मरूप, व्यावहारिक) आयोजन में, उसमें लीन होकर भाग लेना

१०१ वितृष्णा-वैराग्य, विरक्ति, तृष्णा का अभाव

सरस-रसीला

विरागाभास-वैराग्य की तरह दीख पड़ने वाला; आभास=प्रतीति

दुर्धर्ष-कठोर; कठिनता से धर्ष-दबाया जाने योग्य

उच्छृंखल-शृंखला से बाहर; बंधन रहित

संकरा-संकीर्ण, तंग

आत्मोपलब्धि-आत्मा का लाभ; आत्मदर्शन

दायित्व-ज़िम्मेवारी

१०२ विराट् उत्सर्ग-महान् त्याग

आयास-प्रयत्न

१०३ निःशंकित आस्था-शंका रहित विश्वास

विवेचना-छाँट वाली बुद्धि,

विवेक बुद्धि

१०४ झाईं-परछाहीं

१०९ भिक्षुराज-भिक्षुओं का राजा, बुद्ध भगवान्

तरणी-तरि, नौका

काष्ठफलक-लकड़ी के तख्ते

अधर-नीचे

मृद्भांड-मिट्टी के भाँडे

भूर्जपत्र-भोजपत्र; प्राचीन काल में, जब कि काग़ज़ न मिलता था, पुस्तकें भोजपत्र पर लिखी जाती थीं

११० पतवार-नाव चलाने का चप्पू

पादुका-पावड़ी, खड़ाऊँ

परिच्छद-साज औ सामान; कपड़े, वेषभूषा, परि= चारों ओर, छद= ढकना

मुखमुद्रा-मुख की आकृति

१११ अरुण अधर-लाल ओष्ठ

सुधावर्षी-अमृत बरसाने वाला

१११ बोधिवृक्ष-वह वृक्ष जिसके नीचे भगवान् बुद्ध को आत्मिक बोध हुआ था

११२ एकनिष्ठ-एक निष्ठा वाला, एकचित्त, निश्चल

भूभाग-धरती का भाग

११३ अनभिज्ञ-न जानने वाला

तथागत-बुद्ध भगवान्

ओतप्रोत-भरा हुआ

ज्ञानगरिमा-ज्ञान से उत्पन्न होने वाली महिमा

११४ राजनंदिनी-राजकुमारी

जंबू-महाद्वीप-भारत

मृदुल-कोमल

११५ जलगर्भस्थ-पानी में छिपी हुई

अस्तव्यस्त-तितिर बितर

फलाहार-फलों का आहार, भोजन

फेनराशि-झागों का ढेर

अनिर्वचनीय-निर्वचन के अयोग्य, अवर्णनीय

जलचर-तुलना करो, थल-चर, नभचर

११६ कलरव–कल=मधुर, रव=
शब्द
संयत–स्थिर
सद्धर्म–बौद्धधर्म, सत्=सुंदर
शांतं पापम्–'अशुभ शांत
हो' बस करो, बस

११७ महाव्रत–बौद्ध धर्म का व्रत
करद–कर देने वाला
सहोदर–एक पेट का, सगा

११८ कर्मठ–कर्म करने में रत,
तुलना करो कर्मठ
और कर्मण्य की
उत्तुंग–बहुत ऊँची, उत्+तुंग
अरविंद–कमल
चरम–अंतिम
निर्वाण–परम धाम

१२० ध्यानावस्थित–ध्यान में मग्न;
तुलना करो अवस्थित
और उपस्थित
पदातिक–पदाती, पद=पैर
अती=चलने वाले
बद्धांजलि–हाथ जोड़े हुए
नत-जानु–जानु–गोडा
झुकाये हुए

अनुचर–नौकर, पीछे चलने
वाले
वाहन–सवारी

१२१ रत्नाभरण–रत्न और आभू-
षण
हिंस्र–हिंसक, हिंसाशील
ग़ार–गुफ़ा

१२२ आगंतुक–आया हुआ
देदीप्यमान–अत्यंत दीप्त
संभ्रांत–भ्रांत, आश्चर्य-
चकित
प्रबोध–ज्ञान

१२४ स्वर्णखचित–सोने से
चीता हुआ

१२६ चतुर्मास करना–वर्षा के
चारों मास एक स्थान
पर बिताना; बौद्ध और
जैन संन्यासी वर्षा में
भ्रमण नहीं करते
अर्चना–पूजा

१२७ तपश्चर्या–तपस्या
जर्जर–जीर्ण

१२८ नेत्र मुद्रित हैं–आँखें बंद हैं

१२९ शकट–गाड़ी, छकड़ा

१२९ तोरण—वंदनवार
पताका—झंडी
१३० उत्क्रांति—उत्कृष्ट क्रांति, हलचल
१३३ निर्वाणोन्मुख—बुझने वाला, निर्वाण=बुझना
तंद्रा—नींद का आलस्य
रौद्रमूर्ति—भयानक आकृति वाला
तांत्रिक—तंत्र करने वाला
१३४ अभ्युदय—चढ़ाव, उन्नति
ताम्रशासन—ताम्रपत्र, जिन पर राजा लोग शासन-संबंधी आज्ञाएँ खुदवाते थे
मरुस्थल—रेगिस्तान
भुवनमोहिनी—संसार को मोहने वाली
मृणाल—कमल की डंडी
१३५ पाणिग्रहण—विवाह; पाणि=हाथ, ग्रहण=पकड़ना
१३६ पद्धति—प्रथा; लीक, पद्+हति
१३७ तुषार—बर्फ़
१३७ प्रशस्त—भव्य, सुंदर
१३८ परामर्श—सलाह; तुलना करो परामर्श, आमर्श
अज्ञानजन्य क्रिया—नासमझी से किया काम
सृष्टि की बाल्यावस्था—संसार की वह अवस्था जब कि मनुष्य अभी असभ्य था, उसकी बुद्धि का विकास न होने पाया था
शक्तिपूजा—शक्ति की पूजा शाक्तमत के अनुयायी दुर्गा आदि की पूजा पशुओं की बलि देकर करते हैं
१३९ दुर्दमनीय—कठिनता से दबाया जाने योग्य, देखो दुर्धर्ष
पतनोन्मुख—तुलना करो निर्वाणोन्मुख
राष्ट्रविप्लव—देश में उथल-पुथल, क्रांति
देवद्वेषी—देवताओं से द्वेष

करने वाला; जिसका देवी-देवों की पूजा में भरोसा न हो

साम्य–समता

१४० मूक–न बोलने वाला

१४१ शुश्रूषा–सेवा, श्रु=सुनना; आज्ञा मानना

१४२ विस्मयसागर–आश्चर्य का समुद्र; तुलना करो विस्मय, स्मय, स्मित

१४४ मंत्रमुग्ध–चित्रलिखित; मंत्र से मोहा हुआ

कूटनीति–कपट नीति

चोरी करके सीना ज़ोरी करना–पाप करना और उस पर अकड़ना

१४५ गांधर्व विवाह–विवाह के आठ प्रकारों में वह प्रकार जिसमें कन्या को पिता के घर से हरकर, उसकी अनुमति पर, उससे विवाह किया जाता है। आठ प्रकार के विवाह :— ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच

१४६ पथभ्रष्ट–पथच्युत, श्रेष्ठ मार्ग से गिरा हुआ

एक अणु भी–किंचित् भी

१४७ तस्कर–चोर

१५० अलक्षित–अलक्ष्य, अदृश्य, छिपी हुई

१५१ नैश वायु–रात्रि की हवा

अरण्य–वन

१५२ सूँतकर–तुलना करो सौंत कर; पृष्ठ ४२

पापिष्ठ–अत्यंत पापी

१५३ हस्तकौशल–हस्तलाघव

परास्त और निरस्त कर दिया–छक्के छुड़ा दिये

१५४ निबिड–घना

निर्वेद–खिन्नता

झंझावायु–वर्षा मिली तेज़ हवा; सरदियों की वर्षा में झाँय झाँय करने वाली वायु

क्षुब्ध–आंदोलित, अशांत

१५४ कंटकमय–काँटों से भरा
१५५ प्रणयिनी–प्रेयसी, प्रेमिका
१५६ कुटीर–छोटी कुटी
१५७ शिलाकंदर–शिलाओं की कंदरा, गुफ़ा
१५८ अभिनय–नाटक, अभि= सामने, नय=लाना
असंगत–अनुचित
निर्मम पाषाण हृदय–ममता रहित पत्थर सा हृदय
१५९ चरणशरण–चरणों की शरण
१६० पर्णशय्या–पत्तों की सेज
१६१ शतसहस्र–सैकड़ों हज़ारों
सत्यपाश–सत्य का बंधन
१६२ तंत्र की कलंक–तंत्र की बुराई
१६५ प्रियदर्शी–भव्यदर्शन, सुंदर आकृति वाला, सम्राट् अशोक की उपाधि
मुकुल–कली
राजप्रासाद–राजमहल
१६६ स्थविर–वृद्ध बौद्ध भिक्षु
अनास्था–वैराग्य

चित्रलिखित–चित्र में लिखे हुए
रंगालय–नाट्यशाला
यवनिका–जवनिका, परदा
१६७ मुखमुग्धा–मुख पर लट्टू
राजमहिषी–राजा की रानी; महिषी=पटरानी
विमाता–सौतेली माता
१७० नूपुर–बिछुए
कबरी–स्त्रियों के सिर के बाल
१७१ निष्ठुर–कठोर
आनंदामृतपूर्ण–आनंद के अमृत से भरपूर
रात्रिविकासी–रात में खिलने वाले
१७२ निस्तब्ध–शांत
सौधावली–महलों की पंक्ति
हस्तिशाला–हाथी बाँधने की जगह
क्रंदन–रुदन, यहाँ आवाज़
रोमांच–सुख या दुःख की अधिकता में शरीर के रोमों का खड़ा होना

१७७ वधिक–बहेलिया

१७८ जूझना–युद्ध करना
पल्लव–पत्ते
लाल रंग–क्रांतिकारियों का झंडा लाल रंग का है। वे स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए रक्त में, रुधिर में और हिंसा में विश्वास रखते हैं

१७९ मवेशीखाना–पशुशाला
घनिष्ठता–गाढ प्रेम

१८० जटिल–कठोर

१८१ निरंकुश–बेलगाम; अंकुश रहित

१८३ सहृदयता–समवेदना

१८४ भूँजी भाँग–भुनी भाँग, (नाम को भी सामग्री न थी)

१८७ कुचक्र–बुरी मंत्रणा, षड्यंत्र

१९२ निरीहता–निश्चेष्टता

१९४ अपशकुन–असगुन, बुरे लक्षण

१९८ शिविर–सेना का कैंप
नादान दिल–अबोध

१९९ शैलमाला–पहाड़ों की पंक्ति
भैरव रणचंडी–भयंकर रणदेवी

२०० राजचिह्न–चामर, छत्र

२०१ प्रतिशोध–बदला

२०२ स्वर्गादपि गरीयसी–स्वर्ग से भी अच्छी, गरीयसी=गुरुतर
पदप्रक्षालन–पैर पखारना

२०३ कलकल–मधुर
कष्टों का अनंत पारावार–क्लेशों का समुद्र

२०४ विकल–बेचैन

२०७ जीवन नैया–जीवन की नौका
ग्रामीण–गाँव के
बारी–बाड़ी

२०८ पैतृक व्यवसाय–पिता का धंधा
दुर्वह भार–कठिनता से ढोया जाने वाला भार

२०९ सतर्क–सावधान
झुरमुट–झुंड, झाड़ी
इहलोक-परलोक–यह लोक

और दूसरा लोक
शून्य-आकाश
२१० वैदेही-सीता, मिथिला के राजा विदेह जनक की पुत्री
धरणी-पृथ्वी, धारण करने वाली
नटराज-महादेव, तांडव नृत्य करने वाले
रुग्ण-रोगिणी, बीमार
२११ महाकाल-मृत्यु देव
दिगंत-दिशाओं का छोर, दूर दूर तक
भास्कर-सूर्य, प्रकाश करने वाला
धरित्री-देखो धरणी; पृष्ठ २१०
मलयजशीतला-चंदन की नाईं ठंडी
शस्यश्यामला-खेती से हरी हरी
आवेग-आवेश
दूब-दूबड़ा, घास
२१२ दिनकर-भास्कर, सूर्य
प्रखर-प्रचंड
पनशाला-प्याऊ
क्षितिज-वह रेखा जहाँ पर धरती और आकाश मिलते दीखते हों
२१४ अनुमति-सलाह, तुलना करो संमति, विमति
त्याज्य-छोड़ने योग्य
२१५ रिसना-बहना, चूना
अनुज-छोटा भाई
२१६ लुढ़कना-ढुलकना; देखो पृष्ठ ६३
शेषनाग-सर्पों का राजा
२२१ उभय पक्ष-दोनों ओर
२२४ ढलका रहा था-ढाल रहा था, बंद कर रहा था
२२५ शहनाई-नफ़ीरी बाजा, एक प्रकार का बाजा
चें चें-में में-कोलाहल
तलधरिया-तलवार का धन
आर्ट-कला
खमखम-खचाखच
२२६ खिलखिलाती-कड़कती
लमहे भर-क्षण भर

२२७ हुलिया–सूरत-शक्ल
ख़राब-ख़स्ता–जीर्ण
२२८ नज़र-अंदाज़–दृष्टि से ओझल, ध्यान न देकर
हिरासत–कारावास
कानाफूसी–धीरे से एक दूसरे के कान में बात कहना
बदलगाम–बकवादी
२२९ घिघियाकर–गिड़गिड़ाकर, करुण स्वर से प्रार्थना करके
ज़न्-ज़न्–साँय साँय
२३० चमककर–आश्चर्य से चौंककर
२३१ निस्तब्धता–सन्नाटा
जाँ-निसार–जीवन उत्सर्ग करने वाला, जान निछावर करने वाला
२३५ तड़क भड़क–शान-शौकत
२३७ आजीविका–वृत्ति, रोज़ी
लौंडे–लड़के
निकम्मा–बेकार
ग्रेजुएट–बी० ए० पास
ट्रिब्यून–लाहौर का अंग्रेज़ी अख़बार
वांटेड कालम–आवश्यकता के विज्ञापनों का स्थान
२३८ रीझ गया–ललचा गया
२३९ आशा-कल्पनाएँ–आशा-पूर्ण विचार
अठवाड़ा–आठ दिन
बाट–राह
हताश–ना-उम्मेद
२४० डिगरियाँ–उपाधियाँ
दूभर–भारी
टाईटल–मुखपृष्ठ
चटनी–खटाई-वाला खाद्य पदार्थ
२४१ चिहुक उठे–चौंक पड़े, आश्चर्यान्वित हुए
कर्ण-कुहर–कानों के पर्दे
२४२ मुक्का–मुष्टि
बेग–छोटा बक्स
बग्घी–गाड़ी
आलीशान–विशाल तथा सुंदर
२४३ राह में–मार्ग में

२४४ धड़कते हृदय-धक धक करते हुए हृदय
आश्चर्यमयी-अद्भुत

२४५ चिहुककर-आश्चर्यान्वित होकर, चौंककर

२४६ गुच्छा-पुंज, समूह
कुसुम-कलिका-फूल की कली
चटक-चटककर-खिल-खिलकर
मोहिनी-वासना-मस्त कर देने वाली सुगन्ध
शान-ठाट-बाट, सज-धज
पराकाष्ठा-चरम सीमा

२४७ परखने के लिए-जाँचने के लिए
समालोचना-गुण-दोष-विवेचना

२४८ तृषित नेत्रों से-प्यासी आँखों से
मेम्बर-सदस्य
आवास-घर
व्याख्यान झाड़ने-व्याख्यान देने, वक्तृता करने

२४९ वक्तृता-लेक्चर, व्याख्यान
इलेक्शन-चुनाव
अधीर-बेचैन, व्याकुल
प्लेटफ़ार्म-व्याख्यान-वेदी
विषूचिका-हैज़ा
अकाल-दुर्भिक्ष

२५१ उद्धत-अक्खड़

२५२ ऐंठकर-अकड़कर
मुँह मोड़ लिया-चुप हो गये
अवाक्-चुपचाप
मुख-मंडल-मुँह
मायावी-कपटी

२५३ गँवा बैठोगे-खो बैठोगे

२५४ नाक कट जायगी-प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी
पौण्ड-गिन्नी
धाराप्रवाह-जल के बहाव की तरह तीव्र गति से

२५६ हृदयद्रावक-दिल दहला देने वाली
वाग्मिता-वाक्शक्ति
एडीटर-सम्पादक
स्वाद चख चुके थे-रस का अनुभव कर चुके थे

२५७ सानी—खली और पानी आदि में सान कर पशुओं को देने का भोजन
कहार—पानी भरने वाला
२६० वैल—अच्छा
डुकान—दुकान
ठा—था
डुम—तुम
लम्बा डेर—बहुत देर तक
२६४ खड़ा मांगटा—खड़े रहे
कर्णद्वय—दोनों कान
तापतप्त—धूप से तपी हुई
२६५ कलिका—कली
विकास—खिलना
२६६ संगिनी—साथिन
श्याम मेघ—काले बादल
वारिसिंचन—पानी का सींचना; यहाँ पर वर्षा
२६७ बौर—आम के फूल
आम्र-मंजरी—आम के का गुच्छा
झाँककर—देखकर

गल्प-पारिजात में आये हुए
कुछ मुहावरे

पृष्ठ

२ कान पकना
,, नाक की सीध चलना
४ महीन मार करना
८ खिलखिलाना
,, देस देस की चाल है
१० कँपनी छूट रही है

१३ ज़रा तो आँख लगने दी होती
१४ पत्ता तक न खड़के
१५ उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिएँ
,, खेत रहे थे
१७ चक्की के पाटों के बीच में आना
१८ ज्वर में बर्रा रहा था
२१ आज नमकहलाली का मौक़ा आया है
२२ तुम्हारे आगे आँचल पसारती हूँ
२९ सौंदर्य में अपना सानी आप ही थी
३० मैं अपनी मातृभूमि का रज-कण बनूँ
,, मेरे हृदय में काँटा-सा खटकता रहता था
,, बालपन के लँगोटिये यार
३१ यह विचार हृदय में चुटकी लिया करता था
,, स्वर्ग को मात कर रहा था
३४ पिता जी हँसी-क़हक़हे उड़ाते थे
३६ रात्रि नेत्रों में ही व्यतीत की
४० जवानी की लगाम खींच रहा था
४१ रक्त के घूँट पीकर बोला
४२ दम-के-दम में
,, जैसे मौत को अपनी दोनों बँधी हुई मुट्ठियों में मसलता हुआ
४३ जिसकी अभी मसें भी न भीगी थीं
४४ इसके दिमाग़ में कुछ गड़-बड़ है

४५ उसकी अहंमन्यता को आकाश पर चढ़ा दिया था
,, उसकी कीर्ति का परदा खोल दिया
४८ मेरा बेड़ा आप ही पार लगा सकते हैं
,, मूसा आग लेने गये थे, पैग़म्बरी मिल गई
४९ माता-पिता फूले न समाये
५२ मैं कुत्सा को मुँह न खोलने देता था
,, ऊँच-नीच सुझाई
५३ त्योरियों पर बल डालना
५५ न्याय से जौ भर भी पीछे नहीं हटता
,, चलती हुई न्याय की चक्की में पिसना
५७ मानो उसका जाग्रत विवेक भीतर से झाँक रहा हो
६१ वह ज़रूरत से ज्यादा बढ़ा जा रहा था
६२ पाँसा पलट गया
६३ तैमूर अब मैदान का शेर नहीं, क़ालीन का शेर हो गया है
,, खेतों-खलियानों की होली जलाना
६६ ईसाइयों के हाथ-पाँव फूले हुए थे
६८ वह कई बार तैमूर से शोखियाँ कर चुका है
७५ बुजुर्गी को अपने चारों तरफ लपेटे हुए
,, अँगरेज को देखकर आँखें बिछा देते थे
७८ उनकी सनक से छुटकारा आसान न था
८१ इस ज़रा-सी उम्र में ही इसकी मौत से पहचान हो गई

९० मुठभेड़ करना
९२ खिल्ली उड़ाना
९४ शरण गहना
,, मन के ज्वार को शांत करना
९६ गात में एक सिहरन लहराई
९७ युवती का साहस चुक गया
१०१ यह मखमल-बिछा मार्ग नहीं है
१०३ कूच करना
१०९ पानी पर अधर तैर रही थी
११५ औंधे मुँह गिरना
११८ तरणी लहरों की ताल पर नाचने लगी
१२१ एक क्षीण हास्य-रेखा उनके ओठों पर दौड़ गई
१२८ अटूट सुख-नींद सो गया
१४४ वह मंत्रमुग्ध सरीखी हो गई
,, चोरी करके सीनाज़ोरी करना
,, बातों में ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाना
१४५ चित्त पर आशा की एक रेखा खिंच गई
१६६ मणि-कांचन का संयोग कर दिया
,, दर्शक-गण चित्रलिखित से हो रहे
१७९ भागने की तरकीब लगाना
१८० दिन पहाड़ हो गये
१८१ हमारी भाषा मौन थी
१८३ घर आकर देखा, तो ब्रह्मा की सृष्टि ही बदल गई थी

१८४ घर में भूँजी भाँग भी न थी
१९० अपने जीवन के अभाव का परदा खोलने से हिचकती थी
१९२ आँखें चढ़ाना
,, खिंचा रहना
१९४ बिल्ली ने रास्ता काटा था
२११ उस महाकाल के धधकते हुए खप्पर में कूदने से समझाता
२१३ उसके नन्हे नन्हे पैर पक गये
२२३ जो कुछ नक़दी पास थी
२२४ मूल्य आँकना
२२५ ताशे पिट रहे थे
२२६ बंदूक की गोली की तरह गुज़र गया
२३० आँखें चमकी
२३१ मस्तिष्क खौखला उठा
,, उदार हृदय नाच उठा
२३५ लहू बहाकर मिलता है
,, जान मारकर...कमाता हूँ
,, पग पग पर उपाधियाँ हैं
,, ऐसा-वैसा समाचार
२३६ आँख की पुतली
,, डोरी ढीली छोड़ दी
२३७ धीरज छूट गया
,, रुपयों से घर भर देते हैं
,, बाल पक गये

२३८ दारिद्र्य कट जाय
,, मुख से फूल बिखरते थे
,, श्रोताओं के मस्तिष्क को अपनी सूक्तियों से सुवासित कर देते थे
,, तेरी वाणी में मोहिनी है
,, इस शौक को कोसा था
२३९ अंधकार भर देती थी
,, विचार सताने लगे
,, चक्कर काटकर-घूम घुमाकर
२४० दिल उछलने लगा
,, जीवन के भविष्य में आशा की ललित लता लहलहाती दिखाई दी
,, लपके लपके दरवाज़े पर गये
२४१ स्वाद ले लेकर
,, राम राम करके
,, आशा की हरी भरी भूमि सामने आई
२४२ छाती में किसी ने मुक्का मारा
२४४ पानी पानी हो गये
,, मैदान मार लिया
,, बात का रुख बदलने को बोले
२४६ धूम मच गई
,, प्रथम श्रेणी के सम्पादकों की पंक्ति में ला बिठाया
,, मन को मुग्ध कर रही थी

२४७ उर्दू-साहित्य का सिर ऊँचा कर दिया है
,, आनन्द से उछल पड़े
,, जीवन एक आनंदमय यात्रा प्रतीत होती थी
२४८ आम्र-पल्लवों में बैठकर गाने वाली श्यामा
,, भाग्य ने पाँसा पलट दिया
२४९ इस ताक में थीं
,, हाथों ने तालियों से स्वागत किया
२५० तन में आग लग गई
,, उनसे जलते थे
,, हृदय धड़कने लगा
२५१ कल के छोकरे
,, यह सौदा आपको बहुत महँगा पड़ेगा
२५२ अपूर्व तेज की आभा दमकने लगी
२५४ थैली का मुँह खोल दिया
२५८ चुभती दृष्टि से देखा
२५९ जलाने के लिए आये हैं
,, सकुचाए हुए
२६३ अपने अर्थ को टटोलता था
२६४ उसके अधरों से मुस्कान निकली
२६५ होठों में ऐसी माधुरी रखकर
२६६ श्याम मेघ, आकाश से वारिसिंचन कर रहे थे

गल्प-पारिजात में आये हुए कतिपय

ध्यान देने योग्य वाक्य तथा संदर्भ

पृष्ठ

३ और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं।

४ यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं। चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई।

६ नगर-कोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं।

४० मानव-रक्त का प्रवाह, संगीत का प्रवाह नहीं, रस का प्रवाह नहीं—वह एक वीभत्स दृश्य है, जिसे देखकर आँखें मुँह फेर लेती हैं, हृदय सिर झुका लेता है।

४१ अगर तलवार ही सभ्यता का प्रमाणपत्र होती, तो गाल जाति रोमनों से कहीं अधिक सभ्य होती।

४३ मैं तुझसे पूछता हूँ, अगर वे लोग जो खुदा के सिवा और किसी के सामने सिजदा नहीं करते, जो रसूले-पाक को अपना नेता समझते हैं, मुसलमान नहीं हैं तो कौन मुसलमान है ?

४४ यह वीर तुर्कों का ही आत्मोत्सर्ग है, जिसने यूरोप में इसलाम की तौहीद फैलाई।

,, एक दिन तुझे भी परवरदिगार के सामने अपने कर्मों का उत्तर देना पड़ेगा और तेरी कोई हीलहुज्जत न सुनी जायगी।

४५ वह दार्शनिक न था, जो सत्य में भी शंका करता है। वह सरल सैनिक था, जो असत्य को भी अपने विश्वास से सत्य बना देता है।

५१ यौवन की आँधी और लालसाओं के तूफ़ान में भी वह चौबीस वर्षों की वीरबाला अपने हृदय की संपत्ति लिये अटल और अजेय खड़ी थी, मानों सभी युवक उसके सगे भाई हैं।

५६ जब तुम अपने मुश्की घोड़े पर......प्रतीक्षा में बैठी रहती हैं।

५७ तैमूर की उस कठोर, विकृत, शुष्क, हिंसात्मक मुद्रा में उसे एक......विवेक भीतर से झाँक रहा हो।

६३ उस वक्त तो उसी की जीत होती है, जो मानवरक्त का रंग खेले......बस्तियों को उजाड़ दे।

६७ यह तुम्हारा व्यक्तित्व है,......जिसकी हरेक शाखा और पत्ती एक-सा भोजन पाती है।

६८ उसकी युवती चेतना, पद और अधिकार को भूलकर चहकती फिरती है।

७३ वे शुद्ध तत्काल के प्राणी......जीवित थे।

७५ उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मियाँ......कदम-कदम बढ़ रही थीं।

७७ जैसे एक शुभ्र महासागर ने फैलकर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया।

७९ पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे......
न दायाँ है, न बायाँ है।

८७ जिसके जीवन की डोर विजय विजय-विजय......
फेर-फेरकर धन्य होंगे।

८९ जब समय का ठिकाना नहीं है और ठिकाने का भी ठिकाना नहीं है।

,, मानों नीरव प्रकृति......तीखी बना देना चाहती हो।

९१ सिद्धियों, सफलताओं......आत्मनिमग्नता पाया करता है।

९२ इन बहुमूल्य निठल्ली घड़ियों में.........
अपने डोरे समेटकर आ इकट्ठी होती हैं।

,, नहीं तो उस खोखले......उकताहट छूटती है।

१०० कर्म अनिवार्य है......जगत् का तंत्र ही ऐसा है।

१०१ उनका तो मार्ग......संकरा बन जाता है।

१११ यह युवक और युवती......
......प्रचार करने जा रहे थे।

११७ यह अधम शरीर......सम्मान-सहित जीवित रहेगी।

११८ सूर्यदेव ! अभी उस चिर-परिचित......रज-कण में मिल जाना ही मेरी चरम गति है।

१३३ वह समय प्रभावशाली बौद्ध......तांत्रिक बन जाता था।

१३९-१४० केवल निमित्त बनकर......
आत्मतुष्टि करेगा।

१६७ इस मूक अभिनय का परदा......चली गई।

१९९ एक महत्त्वपूर्ण अभिमान......बड़ा विकट समय था।

२०९ दोनों बच्चे......मोह जैसे थे।

२१३ दुर्भाग्य का मैदान......पक्षपात ही करता है।

२२६ उसे ठीक ऐसा अनुभव हुआ......खोल देने पर उसे होता है।

२३८ जब पढ़ते थे, उन दिनों......सुवासित कर देते थे।

२४६ पत्र क्या था......मुग्ध कर रही थी।

२४७-२४८ उन्हें जीवन एक आनंदमययात्रा......पाँसा पलट दिया।

२४९ यह कोई साधारण बात......लट्टू हो जायँ।

२६३ माया केवल हँस देती थी......पथ खोजता होगा।

२६५ माया की असावधानी से......हुआ था मूढ़।